वैष्णवीय
विज्ञान
श्रीमद् रामहर्षणदासजी महाराज

वैष्णवीय
विज्ञान
श्रीमद् रामहर्षणदासजी महाराज

२- भगवान के नाम का सादर सप्रेम सुमिरण करते-करते भगवान का भुवन मोहन सुन्दर स्वरूप हृदय में आने लगता है, जिसका दर्शन करते ही वैष्णव सदा के लिए प्रभु के अतिरिक्त सब भूल जाता है। स्वप्न में भी अन्य किसी का अस्तित्व उनके मन में नहीं रहता।

३- परम प्रभु के चरण-कमलों की प्रीति जब पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाती है, तब तत्क्षण भक्त-परवश भगवान भक्त के आँखों के विषय बन जाते हैं। अहा ! रूपोपासक वैष्णव रूप-रस पीते हुए भी तृप्ति को प्राप्त नहीं होता। धन्य है उसकी रूप निष्ठा।

४- भगवद्रस का रसिक वैष्णव, भगवान को अपना सगा सम्बन्धी समझकर सर्वदा उनके साथ-साथ रहता है तथा रूपासक्त चित्त से रूप-रस के परमैकान्तिक अनुभव का आस्वाद लेते हुए कभी विरत नहीं होता, क्योंकि रूप की मधुरिमा ही ऐसी होती है।

५- भगवान का भुवन मोहन सौन्दर्य-सार-माधुर्य महोदधि सौकुमार्य सुधा-सिन्धु, कोटि-कोटि कंदर्प-दर्प-दलनकारी शारदीय-शत-शत-चन्द्र-विजित-वरानन जब बड़े-बड़े ब्रह्म लीन वेदान्तियों के चित्त को चुराने वाला एवं सहज वैरागियों को रागी बनाने में समर्थ है, तो रूप रसिक वैष्णव भक्त की कथा क्या कही जाय। उसकी रूप निष्ठा वर्णनातीत है।

---o---

११६. वैष्णव में भगवल्लीला निष्ठा

१- भगवान की लीला महा-मोह-तिमिर के नाश करने के लिए तरुण तेज से युक्त तरुण-तरणि के समान है, अस्तु मोहान्धकार-प्रवेश के निरोध हेतु वैष्णव श्री हरि-चरित्र को निरन्तर कहते-सुनते हुए कथाहारी बन जाते हैं।

२- श्री हरि की कमनीय-कथा प्रभु-प्रेम-प्रवर्धिका एवं भावुक हृदय में नव-नव -भावों का उद्भव करने वाली है, इसीलिये प्रेमी वैष्णवों को माधव की दनुज विमोहनि ललित-ललित लीला प्राणों से भी प्रिय लगती है।

३- भगवान की लीला, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की जननी एवं अशेष दिव्य गुणों सहित परमानन्द की उत्पादिका है, अस्तु वैष्णव अपने श्रवण का विषय बनाकर हरिकथा का आधार सर्वदा लिये रहते हैं।

४- जप-तप, योग-यज्ञादि साधन तब तक करें जब तक भगवत-कथा में अनुरागोत्पन्न न हो। अनुरागादित्योदय होने पर वैष्णव भगवल्लीला को सर्व साधनों का साध्य समझकर अपने मन को उससे विलग करना असंभव और अशक्य समझते हैं।

५- भगवान के जन्म-कर्म और उनके दिव्य गुण ही ऐसे हैं, जो श्रवण मात्र से श्रवणवन्त को चरम सुख दायक सिद्ध होते हैं, जिसे ब्रह्मलीन जीवन्मुक्त मुनि, ब्रह्म ज्ञान का परिपक्व रस से ओत-प्रोत मधुरातिमधुर फल समझकर ध्यान से विरत होकर श्रवण पुट से पान किया करते हैं, जो विषयीजनों को भी प्रियकर होती है। भला वैष्णव, चन्द्रकीर्ति के चरित-चन्द्रिका से विनिसृत उस अमृत धारा का अनवरत पान क्यों न किया करें।

---o---

११७. वैष्णव में धरा धाम निष्ठा

१- भगवद्धाम, भक्त के भगवान की विक्रीड़न भूमि है। श्री हरि के चरण-चिह्नों से चिह्नित है, जहाँ भगवदीय गुणों का विकास भली-भाँति हुआ है। वहाँ आज भी उनके विहार स्थलों का दर्शन करते ही मोहादि-दोष दूर होते से देखे जाते हैं, प्रेमोद्दीपन करता हुआ चरित्रों का स्मरण अपने आप हो जाता है। भजनीय प्रभु का भजन भाव वृद्धिंगत होता है, अस्तु वैष्णवों में धाम निष्ठा यहाँ तक बढ़ जाती है, कि उन्हें धाम वियोग, इष्ट देव वियोग के समान ही दुखदाई प्रतीत होता है।

२- भगवान को धाम अत्यन्त प्रिय होता है। चेतन लाभ से लालायित होकर वहाँ वे निरन्तर अर्चावतार रूप में वास करके भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने का एक मात्र अपना व्यापार ही बना लिये हैं। इसलिए वैष्णवों का अपने भगवान के समीप उनके कैंकर्य परायण होकर रहना स्वाभाविक है।

३- श्री धाम श्रीमद्भागवतों की वासस्थली है, जहाँ निरन्तर श्री भगवदर्चा, भगवन्नाम, भगवत्कथा, कीर्तन, लीलाभिनय और अच्छे-अच्छे अनुभवी वैष्णवों का समागम एवं सतसंग-सुख का अदान-प्रदान हुआ करता है, अस्तु भगवद्भागवत के अनुभव आस्वाद के लिये वैष्णव धाम निष्ठ होते हैं।

४- भगवद्धाम, भगवद्रूप, सच्चिदानन्दमय होता है, लीलाधाम के नैष्ठिक चेतन को उस परात्पर धाम की प्राप्ति होती है, जहाँ से जीवों की पुनरावृत्ति नहीं होती, अस्तु वैष्णव निष्ठापूर्ण श्री धाम सेवन करते हैं।

५- भगवद्धाम में वैष्णवों का सहज प्रेम रहता है। उनको धाम के अतिरिक्त अन्य कहीं रहने की रुचि ही नहीं उत्पन्न होती, इसलिये निष्ठा उनके स्वभाव में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक उतरती जाती है।

---०---

११८. वैष्णव में साधनान्तरों का सर्वथा परित्याग

१- वैष्णव जब प्राप्तव्य वस्तु के अनुरूप प्रापक अर्थात् सिद्ध साधन स्वरूपा भगवान की शरणागति ग्रहण कर लिया, जिसमें प्रभु स्वयं उपाय हैं, तो उसे अन्य उपायों का अवलम्बन लेना भगवान और भगवान की कृपा पर अविश्वास करना है, इसलिये वैष्णव साधनान्तरों से दूर रहते हैं।

२- प्रपत्ति अपने से अतिरिक्त अन्य साधनों को नहीं सहती। वह कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति को उपायतया ग्रहण करने से स्वरूपानुरूप नहीं रह पाती, इसलिए प्रपत्ति-पथानुयायी वैष्णव अन्य साधनों का अवलम्बन नहीं लेते।

३- प्रपत्ति चेतन के स्वरूपानुकूल है। एक बार की हुई प्रपत्ति उत्तारक होती है। प्रपत्ता के प्राणान्त समय में अन्य योगों की तरह मन को ध्यान-धारणा में लय होने की अपेक्षा प्रपत्ति में नहीं हैं, क्योंकि शरणागत वत्स्ल भगवान शरणागत चेतन को अन्त समय में स्वयं स्मरण कर अपना अपुनरावर्ती धाम प्रदान करते हैं। प्रपत्ति करने वाले चेतन के ऐहिक और परमार्थिक योगक्षेम वहन करने के लिये स्वयं भगवान कटिबद्ध रहते हैं, अस्तु वैष्णव अन्य साधनों का सहारा मन से भी स्वीकार नहीं करते।

४- अन्य साधनों की सम्पन्नता अहंकार के सम्मिश्रण से होती है। वैष्णव अभिमान शून्य होते हैं, अस्तु जान बूझ कर वे विष से मिला हुआ अन्न अपने उपयोग में नहीं लाते।

५- वैष्णव, भगवान को ही उपाय और उपेय मानते हुए उनके द्वार पर पड़े रहते हैं, यदि कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति के अनुष्ठान उनमें देखे भी जाँय तो वे उपायतया नहीं वरन स्वभाव वश प्रभु प्रीत्यर्थ कैंकर्य रूप में उनका आगमन है।

---o---

११९. वैष्णव में देवतान्तरों का सर्वथा त्याग

१- वैष्णव लोग एक पतिव्रत धर्म परायणा नारी के समान अपने भगवान को ही अपना शेषी, भोक्ता और रक्षक समझते हैं, अस्तु अन्य देवालम्बन न करके वैष्णव शब्द को चरितार्थ करते हैं।

२- जैसे एक महाराजा की महारानी अन्य किसी के पास जाकर वस्त्रादि की याचना कर अपने और अपने पति के गौरव को नष्ट करती है, उसी प्रकार का दोष वैष्णव को अन्य देवाराधन से होता है। चित्त की चिन्ता को हरण करने वाली एवं सर्वकाम प्रदायिनी चिन्तामणि जिसके गृह में सुलभ हो और वह काँच के टुकड़े जहाँ-तहाँ कचरे के ढेरों से खोज-खोजकर एकत्रित करे तो क्या कोई उसे अच्छा कहेगा ?

३- यह चेतन परम प्रभु का सहज भोग्य पदार्थ है। भगवान के आरोगते समय उनके सामने से अन्न की थार हटा लेने के समान वैष्णव का अपने को अन्य देवाराधन में लगा देना है।

४- भगवान सर्वलोक शारण्य अर्थात सबके रक्षक हैं। अन्य देवता कदापि रक्षक नहीं हो सकते, क्योंकि वे स्वयं अपनी रक्षा करने में असमर्थ हैं। वैष्णव को अन्य देवोपासना से उसी प्रकार का दोष होता है, जैसे कोई अपने कल्याण की कामना से महाराजा के पास न जाकर उसका अपमान करता हुआ उसी नरपति के द्वारा बन्द किये हुये कैदियों के समीप कैद खाने में जाय, अस्तु वैष्णव अन्य देवाराधन से सर्वदा पृथक रहते हैं।

५- भगवान के परमपद को प्राप्त करने वाला जो देव परमपद के तुल्य हो, उसी की आराधना या प्रपत्ति करनी चाहिये, अस्तु वैष्णव सभी देवी-देवताओं को उनके लोकों के सहित शास्त्रानुसार च्युत समझकर अच्युत पद पाने के लिये अच्युत भगवान की उपासना करते हैं। कहीं यज्ञादि में अन्याराधन देखा जाये तो वहाँ भगवान के अंग समझकर अंगी की प्रसन्नता के लिये है, रक्षक समझकर नहीं है। अपने घर आये हुये राजा के सत्कार के साथ उसके परिकरों का सम्मान करना राजा के आदर के लिये ही है।

---०---

१२०. वैष्णव वेदान्त में जीव की अनेकता और जीव ईश्वर नहीं बन सकता

१- जीव कभी किसी उपाय से ईश्वर नहीं हो सकता, यह वैष्णवों का वेदान्त-सिद्धान्त है। जीव अनन्त हैं, क्योंकि सभी जीवात्मा अपने कर्म के वैषम्य से भिन्न-भिन्न प्रकार के सुख-दुख का अनुभव करते हुये अनेकानेक लोकों में देखे जाते हैं। अगर जीव एक होता तो एक ही प्रकार के सुख-दुख सभी भूतों में प्रकाशित होते, इसी प्रकार जीव यदि ब्रह्म होता तो ब्रह्मानन्द ही में सदा मगन रहता हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान और अहंकार-ममकार के वशीभूत होकर अविद्या जनित क्लेशों का शिकार क्यों बनता।

२- जीव मायाधीन है, उसकी गति अगति हरि के हाथ है। स्वतन्त्रता पूर्ण स्वइच्छा से जब चाहे बिना साधन के, परम पद को प्राप्त हो जाय, कभी देखा सुना नहीं गया, इस लिए जीव ईश्वर नहीं है, यदि किसी जीव को वैष्णव पद की प्राप्ति हो गई तो एक होने के सम्बन्ध से सबको उसी पद में तुरन्त प्रवेश कर जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता, इसलिए सिद्ध है कि जीव अनेक हैं।

३- जीव अनादि, अणु, अल्पज्ञ, सच्चिदानन्द परमात्मा का सनातन अंश एवं शेष, भोग्य,रक्ष्य और परतन्त्र तत्व है। ईश्वर महान, सर्वज्ञ स्वयं सनातन अंशी एवं सर्व शेषी, सर्व भोक्ता, सर्व रक्षक और स्वतन्त्र तत्व है, इसलिये जीव त्रिकाल में भी कभी ईश्वर नहीं बन सकता। वेद शास्त्र में सर्व शारण्य, सर्व शेषी, सर्व भोक्ता और सर्व रक्षक भगवान को कहने से यह निश्चय होता है, कि जीव अनेक हैं,

यदि एक जीव होता, तो सर्व शब्द विशेषण में क्यों ग्रहण किया जाता।

४- जब-जब भूमि धर्म के अभाव से भाराक्रान्त होकर करुण-क्रन्दन करने लगती है, तब-तब सभी सुर-नर-मुनि समुदाय साथ-साथ भगवान की शरण लेकर ही कल्याण का दर्शन करते हैं। अगर सभी ब्रह्म अर्थात् ईश्वर होते तो स्वयं पृथ्वी का भार हरण कर सुखी हो जाते, परमात्मा को पुकारने की क्या आवश्यकता, अस्तु जीव ईश्वर कदापि नहीं हो सकता। प्रभु स्वयं प्रतिज्ञा कर धराधाम में पधारते हैं, कि मैं दैवी संपत्ति से संयुक्त साधुओं की रक्षा के लिये आसुरी संपत्ति वालों का विनाश करूँगा, अस्तु भगवत वाक्यों से जीवों की अनेकता स्पष्ट है। अगर जीव अनेक न होते तो ''साधूनाम'' और ''दुष्कृताम'' का पाठ ही न पढ़ा जाता।

५- सद्‌गुरु-रुचि-प्रधान मंत्र-द्वय से सुस्पष्ट है, कि जीव कभी ईश्वर नहीं हो सकता। वह भगवान का सहज शेष और भोग्य है। भगवत कैंकर्य ही उसका परम पुरुषार्थ है। इसी प्रकार भगवत रुचि प्रधान चरम-मंत्र से यह निश्चय होता है, कि जीव अनेक हैं, और परम पद प्राप्त करके भी अनेक रहते हैं।

---o---

१२१. वैष्णव वेदान्त में ब्रह्म विवेचन

१- जिससे अनन्त ब्रह्माण्डों में सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति होती है, जिसके शक्ति संचार से सम्पूर्ण भूत जीवन धारण करने में समर्थ होते हैं, प्रलय काल, जिसमें सर्वभूत प्रवेश कर जाते हैं, वही ब्रह्म है।

२- वैष्णव-वेदान्त का ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट है। चित और अचित (जीव और प्रकृति) ब्रह्म के शरीर हैं। ब्रह्म शरीरी है, जिसका अपने शरीर से कभी पृथक न होना स्वाभाविक है, शरीर परिस्थिति के अनुसार सूक्ष्म-स्थूल भले हो जाय।

३- वैष्णव वेदान्त का ब्रह्म सच्चिदानन्द साकार विग्रहवान परम पद में अनन्त परिकरों से सेवित अपनी अचिन्त्याह्लादिनी श्री जी के संग प्रतिष्ठित है। मंत्र द्वय इसमें प्रमाण हैं, कि श्रीपति भगवान श्री जी से

कभी पृथक नहीं होते, जैसे अग्नि से दाहिका शक्ति और सूर्य से प्रभा किसी समय विलग नहीं रह सकती। इस मिथुन जोड़े को ही मनीषी ब्रह्म कहते हैं।

४- वैष्णव वेदान्त का ब्रह्म 'अखिल हेय प्रत्यनीक' अर्थात निकृष्ट गुणों से सर्वथा रहित होने के कारण निर्गुण विशेषण से तथा समस्त कल्याण गुण-गण-निलय होने के कारण सगुण विशेषण से संयुक्त हैं, अर्थात् सगुण और निर्गुण उस साकार ब्रह्म के विशेषण हैं, जो अपुनरावर्ती वैष्णव धाम में प्रतिष्ठित है।

५- वैष्णव-वेदान्त का ब्रह्म उत्पत्ति-पालन-प्रलय तथा चेतन को जड़ और जड़ को चैतन्य करने न करने तथा अन्यथा करने में सर्व समर्थ एवं काल-कर्म-स्वभाव, गुण, भक्षक है। अनन्त होने से देश, काल और वस्तु विशेष से परिछिन्न नहीं होता, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक होने से विष्णु नाम से कहा जाता है। वह जब-तब अपने भक्तों की रक्षा हेतु अवतार भी लेता है। प्रेम के परवश होकर प्रेमियों को प्रगट दर्शन भी देता है। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार रूप में वही सबको सुलभ होता है। उसी के नाम रूप, लीला, धाम चारों तत्व जो सच्चिदानन्दमय हैं, प्रपन्नों को पराभक्ति एवं परम पद प्रदान करते हैं। उसी के दिव्यातिदिव्य सौलभ्यादि गुण तथा अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, सौष्ठव, लावण्य, लालित्य, मोहकत्व और वशीकरणत्वादि प्रेमी भक्तों के अनुभव के लिए होते हैं। महामहिम्न होते हुए भी वह सबका सुहृद और सखा है। वह प्रकाशमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, मंगलमय, अमृतमय, प्रेममय और रसमय है। वही विषय करण देव और जीव जगत का प्रकाश है। वही अकर्तृभाव में प्रतिष्ठित वेदवेद्य, माया पति, हृषीकेश, उत्प्रेरक, कर्ता और कारयिता है। यह सृष्टि उसी के महिमा की विकासिका एवं चिन्मयी लीला है।

---०---

१२२. वैष्णव वेदान्त में प्रकृति तत्व का विवेचन

१- मूल-प्रकृति उस महा महिम्न की शक्ति है, जिसे ब्रह्म कहते हैं। त्रिगुणात्मिका होने से यही भगवान की अध्यक्षता से संसार का सृजन, संरक्षण और संहार करती है। प्रभु कृपा से ही जीव प्रकृति के पार होता है।

२- प्रकृति जड़ होने के कारण जीव को भोगोन्मुख करती हुई विपरीत ज्ञान तथा अहंकार-ममकार से बांधती है, स्वप्रयत्न में लगाती है, परन्तु प्रभु-कृपा प्राप्त पुरुष को अपने जड़ता की जानकारी करा करके परम पद प्राप्त कराने की सहायिका भी होती है।

३- जब से परब्रह्म परमात्मा है, तब से प्रकृति भी है, क्योंकि उस ब्रह्म की अपृथक विशेषण भूता है इसलिए ब्रह्म और जीव की भाँति यह भी अनादि है।

४- भगवान भी धराधाम में अवतार धारण कर इसी योगमाया से समावृत होकर नर लीला का निपुणता के साथ अनुकरण करते हैं किन्तु प्रभु इससे लिप्त नहीं होते, क्योंकि वे मायापति हैं और माया भी भगवान को अपने हाव-भाव से अपने में आसक्ति पैदा करके अपने आधीन करने में नित्य असमर्थ ही बनी रहती है, क्योंकि ब्रह्म एक रस स्व-स्वरूप में नित्य अविचलतया प्रतिष्ठित रहता है।

५- सिद्धान्ततया प्रकृति ब्रह्म से अपृथक कही गई है, जिस प्रकार से जीव। फिर भी शरीर और शरीरी का भेद है ही। तीनों गुणों की साम्यावस्था में प्रकृति अव्यक्त दशा में रहती है, इसलिए उसे अलिङ्ग और अव्यक्त भी कहा गया है। तीनों गुणों की विषमावस्था को प्राप्त कर वही महत्तत्व कहलाती है तथा लिङ्ग और व्यक्त नाम से भी पुकारी जाती है, जिसमें सारे संसार का दृश्य, बीज रूप से सन्निहित रहता है। उस महत्तव से सात्विक राजसिक और तामसिक त्रिधा अहंकार उत्पन्न होता है। सात्विक-अहंकार से मन, राजसिक से कर्मेन्द्रियाँ, सात्विक-राजसिक से ज्ञानेन्द्रियाँ, तामसिक से पाँच तन्मात्राएँ और पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत बनते हैं। प्रकृति वह तत्व है, जिससे अन्य तत्व बने। जो बनते हैं, वे विकृति कहलाते हैं, जिनसे अन्य तत्व नहीं बनते।

---o---

१२३. वैष्णव वेदान्त में जीव की प्रभु परतंत्रता

१- जैसे अन्नादि पदार्थ, अन्न-धनी के आधीन होते हैं, समय पर अपनी इच्छा से इच्छानुसार उसे विमल बनाकर पकवान के रूप में भोक्ता उपभोग करता है, उसी प्रकार चेतन भगवान का भोग्य पदार्थ है, जो स्वरूपत: प्रभु परतन्त्र है। अपनी इच्छा से वे जब और जैसे जीव को भोगना चाहते हैं, भोगते हैं, अस्तु, स्वरूपज्ञ वैष्णव अपने को ईश्वराधीन समझना, अधिकारी चेतन का अधिकार समझते हैं।

२- मूल मंत्र में चेतन को भगवान का शेषभूत सहज दास बतलाया गया है, उस निरूपण में स्वतंत्रता का सर्वथा निवारण किया गया है अर्थात् जीव स्वाभाविक प्रभु परतन्त्र है, इसलिए वैष्णव अपनी इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट निवृत्ति ईश्वराधीन समझते हैं।

३- रहस्यत्रय मंत्रों से यह निश्चयार्थ प्राप्त होता है, कि चेतन ईश्वर की रक्ष्य वस्तु है, जो रक्षक के आधीन हर समय रहती है, यदि प्रत्येक काल परतन्त्र न रहे, तो रक्ष्य-रक्षक सम्बन्ध की हानि होकर स्वरूप का नाश हो जायगा, अस्तु, वैष्णव सर्वदा प्रभु परतन्त्र रहकर स्वरूप में स्थित रहते हैं।

४- वैष्णव वेदान्त में जीव को अणु और ईश्वर को महान कहा गया है । जीव शरीर है, ब्रह्म शरीरी है, इस लिए चेतन का स्वरूप परमात्म स्वरूप के भीतर है, जैसे शरीर शरीरी के अधीन रहता है, उसी प्रकार जीव ईश्वर के अधीन रहता है, अस्तु, वैष्णव स्वतन्त्रता का किंचित अनुसंधान करना स्वरूप के विनाश का हेतु समझते हैं।

५- आचार्य वचनों में प्रतीति करने वाले वैष्णव अपना दासान्त नाम स्मरण कर सर्वदा प्रभु परतन्त्र बने रहते हैं, जिससे सद्गुरु प्रदत्त स्वस्वरूप की हानि न हो।

---o---

१२४. वैष्णवीय सिद्धांत से जीव का प्रकृति सम्बन्ध विवेचन

१- भागवतापचार और विषय प्रावण्य ही जीव का सम्बन्ध प्रकृति के साथ जोड़ने में मुख्य हेतु है, यह अर्थ, यत्र-तत्र वैष्णवीय ग्रंथों में देखा जा सकता है।

२- दृष्य के दर्शन की कामना दृष्टा को दृष्य में तदाकार किये रहती है।

३- अविद्या (विपरीत ज्ञान) प्रकृति से जीव को पृथक नहीं होने देती।

४- अहंकार के आधीन होकर भी उसे दुखद न समझने वाले जीव को भगवदिच्छानुसार प्राकृत-धाम में प्राकृत-लीला का पात्र बनना पड़ता है, इसलिये प्रकृति सम्बन्ध उसका बना रहता है।

५- भगवत शरणागति को ग्रहण न करने वाले जीव इस दुरत्यय माया से पार नहीं हो सकते, अस्तु उनका सम्बन्ध प्रकृति से बना रहता है।

---०---

१२५. वैष्णव में पुरुषकार के लिये श्री जी की अपेक्षा

१- संसार सागर में निमग्न जीवों के दुख से दुखी होकर 'श्री जी' बिना जीवों के कहे हुये भगवान से उनके उद्धारार्थ प्रार्थना करती हैं, इसलिए परमर्षियों ने प्रभु के प्राप्ति के लिये 'श्री जी' को पुरुषकार के लिये वरण करने का आदेश दिया है, जिसका अनुमोदन श्री हरि ने स्वयं किया है।

२- पुरुषकार में कृपा, पारतन्त्र्य और अनन्यार्हत्व अपेक्षित है। यह तीनों उच्चतम स्थिति को प्राप्त 'श्री जी' के स्वभाव में परिलक्षित होते हैं, जिनका प्राकट्य श्री भगवती महादेवी सीता जू के चरित-चन्द्रिका में चारुतया हुआ है।

३- जीव के उद्धार विषयक विनयावली को सुनकर भी सर्व-लोक रक्षक भगवान यदि अनसुनी कर असावधानता प्रदर्शन करें तो श्री जी अपना अनंतानंत सौन्दर्य दिखाकर प्रभु को वश में करके जीव का कल्याण करती हैं, इसलिये प्रपन्न पुरुषकार करने के लिये श्री जी की अपेक्षा करते हैं।

४- श्री जी में अनन्तानन्त माताओं के प्यार का समुद्र सन्निहित है और वह है जीव रूपी स्वपुत्रों के पालन करने के लिये। उसी प्यार के सहारे जीव जगत जीता है, अस्तु पुत्र का धर्म होता है, कि प्रथम मातृ देवो भव। यही कारण है, कि वैष्णव भगवान के सामने सीधे जाने में असमर्थ है, 'श्री जी' को आगे कर अच्युतोन्मुख होते हैं।

५- माता, पिता से दस गुना गौरव देने योग्य है, इस शास्त्राज्ञा को जो स्वीकार नहीं करते, वे मातृघाती हैं। पिता से अपने इष्ट पूर्ति के लिये मातृ प्रेमातिशयता के कारण प्रथम माता से ही सुपुत्र प्रार्थना करते हैं। वैष्णवों का पुरुषकार करने के लिये 'श्री जी' को वरण करना उनके अनुरुप है।

---०---

१२६. वैष्णव शास्त्रों में ''श्री जी'' का सर्वोत्तम स्थान

१- श्री यह मधुराति मधुर परम पवित्र सुन्दर नाम 'श्रृंञ्' 'सेवायाम्' धातु से निष्पन्न हुआ है। यों तो श्री शब्द की कई व्युत्पत्तियाँ होती हैं, जो सभी सार्थक सत्यता से भरी हुई श्री जी की महिमा की द्योतक हैं, किन्तु यहाँ केवल 'श्रयते, श्रीयते' इन दो व्युत्पत्तियों से ही श्री जी की संक्षिप्त महिमा का विवेचन करना है। 'श्रयते' से आश्रयण करती है और 'श्रीयते' से आश्रयण की जाती है, यह दो अर्थ सिद्ध होते हैं। यह दोनों अर्थ सापेक्ष तो हैं, किन्तु श्री जी के स्वरूपानुकूल हैं। 'ईश्वरी सर्व भूतानाम्' इस वचनानुसार ये सबकी स्वामिनी हैं, अतएव नित्य, मुक्त, मुमुक्ष, कैवल्य और वद्ध, पंच विधि चेतनों द्वारा सेवित होती है, अर्थात् आश्रयण की जाती है। विष्णु-पत्नी होने से आप भगवान की सेवा करती हैं, अतएव स्वव्यतिरिक्त सकलात्माओं की स्वरूप-स्थिति इत्यादि उनके कटाक्षाधीन है तथा श्री जी की स्वरुप स्थिति भगवान के कटाक्षाधीन है यद्यपि दोनों का अविनाभावी नित्य सम्बन्ध है तद्यपि दोनों की लीलामय बहिरंग-स्वरुप-स्थिति देखकर व्युत्पत्त्यानुसार उक्त अर्थ आचार्यों द्वारा श्रुति शास्त्रानुमोदित सिद्ध किया गया है, इसलिए 'श्री जी' सर्वेश्वरी है अर्थात अपने को छोड़कर समस्त चेतनों की स्वामिनी है तथा भगवान की परतन्त्रा है। यही इनका स्वरुप है। इस प्रकार व्युत्पत्ति द्वय से श्री जी का चेतनों से सम्बन्ध तथा 'श्री जी' का भगवान से सम्बन्ध कहा गया है, इसका तात्पर्यार्थ पुरुषकार में दृष्टिगोचर होता है, या यों कहिये कि पुरुषकार करने के लिये चेतन का 'श्री जी' से सम्बन्ध नित्य है तथा पुरुषकार फल प्रद होने के लिये 'श्री जी' का भगवान से नित्य सम्बन्ध है।

२- भगवती श्री जी में ही पुरुषकार वैभव है, भगवान में नही,

क्योंकि आपका स्वरुप कृपा, पारतन्त्र्य और अनन्यार्हत्वमय है, अतएव आपका पुरुषकार वैभव सुरक्षित है। भगवान में स्वातंत्र्य और नैरंकुश भाव-नित्य होने से ईश्वरत्व सुरक्षित है।

श्री शब्द की 'श्रुणोतीति श्री' 'श्रावयतीति श्री' ये दो व्युत्पत्तियाँ श्री जी के पुरुषकार वैभव को पूर्णतया प्रकाशित करती हैं। प्रथम का अर्थ होता है "सुनती हैं" अर्थात अभिमुख चेतन जब अपने अपराध तथा भगवान के स्वातन्त्र्य और निरंकुश शासन का स्मरण करता है, तो हाय-हाय कहकर पीछे हटने लगता है, यह सुनते ही 'श्री जी' आर्द्र चित्त होकर कहने लगती हैं, कि "मेरे प्यारे चेतन तुम में अभिमुख्य चाहिये सो तो है ही। अपराधों को क्षमा कराने के लिये मैं स्वयं भगवान से निवेदन करने को तैयार हूँ। वे अपने अंक में बिठाकर तुम्हारा अनुभव करेंगे, अस्तु, आओ आओ, हमारे समीप आओ"। दूसरी व्युत्पत्ति का अर्थ होता है, सुनाती हैं। 'श्री जी' के जीव को अपनाने के लिये कहने पर भगवान जब कहते हैं कि 'यह तो मेरा महा अपराधी है, ऐसा आप क्यों कहती हैं।' तब 'श्री जी' पुन: कहती हैं कि आपके सौशील्य, सौलभ्य, वात्सल्य, क्षमा, दया, कृपा, करुणा और औदार्यादि अनन्तानन्त गुण कहाँ काम आयेंगे, उनका विनियोग तो इन्हीं अभिमुखी चेतनों के ग्रहण में होना चाहिये अन्यथा महारण्य के पुष्पों के समान ये दिव्यातिदिव्य गुण वृथा ही जायेंगे आपके भाग्य से यह चेतन आज आ गया है, जो आपका प्रिय से प्रिय परम भोग्य है अन्यथा इसकी अभिमुख्यता असम्भव ही थी। प्रभु यदि इतना कहने पर स्वीकार कर लिए तो ठीक है नहीं तो अपने रूप सौन्दर्योदारता से भगवान को वश में करके चेतन को सहज ही प्रभु का प्यारा बना देती हैं, वे अपना आनन्द विवर्धन करने वाले प्रिय भोग्य को ग्रहण कर अनुभव करने लगते हैं, अस्तु, इन दो व्युत्पत्तियों से श्री जी का पुरुषकारत्व सुस्पष्ट है।

३- प्रपत्ता के प्रपत्ति करने के समय प्रपतव्य (भगवान) से पुरुषकार करने के कारण श्री जी को भगवान से छोटी तथा एक तत्व (शरीर शरीरी) होने के कारण समान एवं सौलभ्य, कृपा और सौन्दर्य में भगवान से अधिक होने के कारण बड़ी कहते हैं। वास्तव में जो श्री जी है, सो भगवान हैं, जो भगवान है वह श्री जी हैं। लीला रसास्वाद विवर्धन हेतु तथा जीव के कल्याण के लिये एक ब्रह्म द्विधारूप होकर

कार्य-वैषम्यता के कारण उक्त प्रकार से कहा गया है।

४- 'श्री जी' में जैसे पुरुषकारत्व है, उपायत्व नहीं, वैसे ही भगवान में उपायत्व है, किन्तु पुरुषकारत्व नहीं। विचार करने पर दोनों में दोनों विद्यमान है, क्योंकि यह युगल जोड़ी नाम मात्र को दो है, तत्वत: एक है।

५- 'श्री जी' भगवान की आत्मा एवं उनसे अभिन्न संवित, संधिनी और आह्लादिनी त्रिधा रूप अचिन्त्य, अप्रमेय अनादि शक्ति हैं, जैसे भास्कर भगवान से उनकी अभिन्न प्रभा है, वैसे ही भगवान से भगवती 'श्री जी' हैं। इन्हीं 'श्री जी' के भ्रू-विलास से जगत के सृजन, संरक्षण और संहार की लीला हुआ करती है, यही सबको धारण, पोषण करने वाली हैं, इनकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं होता। विष्णु-वल्लभा होने से यह सर्वेश्वरी हैं। 'श्री' - पतित्व पद को पाकर ही महा महिम्न भगवान की अनन्त, अकथ और अचल महिमा है। 'श्री जी' के बिना भगवान ऐसे है, जैसे शक्ति के बिना शक्तिवान। भगवान के बिना 'श्री जी' ऐसी हैं, जैसे शक्तिवान के बिना शक्ति, अर्थात इन दोनों का अविनाभावी सम्बन्ध है दोनों गिरा-अर्थ और जल-बीचि के समान कहने के दो, किन्तु वास्तव में एक तत्व हैं। 'श्री जी' के महिमा की इयत्ता स्वयं 'श्री जी' और श्री हरि भगवान को भी अनन्त होने से अलब्ध है, फिर भी 'श्री जी' के सर्वज्ञता में न्यूनता नहीं आती।

----o----

१२७. वैष्णव शास्त्र में भगवान का सर्वोपम स्थान

१- श्री, यश, ज्ञान, वैराग्य, बल और तेज नामक षट भगों (ऐश्वर्यों) से पूर्णातिपूर्ण परब्रह्म परमात्मा को भगवान कहते हैं। अनन्त, अचिन्त्य, अगम्य और अवर्णनीय 'श्री' आपसे कभी पृथक नहीं होती, जैसे इक्षु-रस से उसकी मधुर मिठास, या यों कहा जाय कि भगवान श्रीमय हैं। श्री-पति-श्रीनिवास प्रभु विशेष्य के विशेषण हैं। श्री जी सदा आपके हृदय का आलिंगन करती रहती हैं। 'श्री वत्स' का चिह्न इस विषय में साक्षी है। चन्द्रकीर्ति भगवत-चन्द्र में राहु का आक्रमण नहीं होता, वह कलंक रहित पूर्ण रूप से सदा एक रस उदित बना रहता है,

उसमें अस्त का अदर्शन त्रैकालिक सत्य और स्वाभाविक है। विपक्षी मेघाडम्बरों से कभी और किसी ने आच्छादित होते नहीं देखा। जिसमें चराचर जीवौषधि को पुष्ट बनाने हेतु अमृत का निरंतर स्राव होता रहता है, जिसकी शीतल समुज्वल सुखद किरणों के सामने अज्ञानान्धकार का दर्शन दुर्लभ बना रहता है। वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराण स्मृति और आप्त पुरुष इस विषय के प्रमाण हैं। भगवान के निर्मल अखंड यश को गा-गाकर भक्त भव से पार हो जाते हैं। भक्तों के लिये भगवत्-यश उपायोपेय है। उनके रमने का रमणीय स्थान है।

भगवान का ज्ञान अखण्ड और अनन्त है। वे स्वयं ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता हैं, उनके अतिरिक्त उनको कोई नहीं जानता। वे अनन्तांनन्त कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों के अनन्तानन्त-प्राणियों, पदार्थों और परिस्थितियों के भूत, भविष्य और वर्तमान के सर्व प्रकार के सर्वज्ञानों का ज्ञान एक साथ बिना साधन के अपने में, अपने द्वारा, अपने ही, अपने अत्यन्त निकट वर्तमान के अल्पक्षण में सहज स्वाभाविक रखते हैं। नित्य स्वस्वरूप में एक रस स्थित रहने वाले एक भगवान ही अखण्ड ज्ञानी हैं। भगवान अपने महामहिम्नमयी भगवत्ता से भी सहज वैराग्यवान हैं। संसार के सृजन, संरक्षण और संहार के कार्य में उदासीन बने हुए एक रस स्वस्वरूप में स्थित रहते हैं। सम्पूर्ण कल्याण-गुण-गण-निलय एवं सर्वशेषी, सर्व-भोक्ता, सर्व-रक्षक होते हुये भी श्री पति भगवान अलिप्त ही बने रहते हैं। उन्हें कोई भी भोग्य अपने प्रभाव से प्रभावित नहीं कर सकते अर्थात् आसक्ति नहीं उत्पन्न कर सकते।

भगवान अमल, अनंत और अखंड तेज के सहज स्वरूप हैं, उन्हीं के प्रकाश से विषय करण, सुर, जीवमय चराचर संसार प्रकाशित है अर्थात् जगत प्रकाश्य है और प्रभु प्रकाशक हैं। प्रभु अप्रमेय बल वाले हैं, अस्तु वे करने, न करने, अन्यथा करने में सर्व समर्थ हैं। वे मायापति, उरप्रेरक, हृषीकेश हरि, काल, कर्म, स्वभाव, गुण भक्षक हैं। उद्भव, पालन, प्रलय की लीला उनके भृकुटि-विलास से होती रहती है। स्वबल से ही सर्वेश्वर भगवान परम स्वतन्त्र एवं निरंकुश सबके शासक और ईश्वरों के भी ईश्वर हैं।

२- भगवान सगुण, साकार, सविशेष, परम सौन्दर्य-सुधा-सिन्धु, माधुर्य-महोदधि, सौकुमार्य-सदन, सौष्ठव-सम्पन्न, लावण्यानंत लालित्व, मोहकत्व और वशीकरणत्वादि वैभवों से युक्त सच्चिदानन्द विग्रह वाले हैं। निर्गुण, निराकार, निर्विशेषादि वर्णन का आशय, प्राकृत गुण, आकार और स्थूलादि से रहित अर्थ में है।

३- चेतन के किसी प्रकार संकल्प करने के पूर्व भगवान के हृदय में छ: प्रकार के संकल्प उदय होते हैं। इन छ: संकल्पों के बिना चेतन कुछ विचार कर ही नहीं सकता, वे ये हैं :-

(१) कर्तृत्व (२) कारयितृत्व (३) उदासीनत्व (४) अनुमन्तृत्व (५) सहकारित्व (६) फल प्रदत्व।

अर्थात् चेतन के संकल्प को पहले स्वयं करना, पीछे चेतन में उत्पन्न करना। उस संकल्प को चेतन के कर्मानुसार उत्पन्न करना। संकल्प को दूर करने की शक्ति होते हुए भी उसे दूर न करना। इस चेतन का ईश्वर के सहाय बिना किसी कार्य में प्रवृत्त या निवृत्त होने की सामर्थ्य न रखना, यह सब चेतन के कर्मों के फलानुरूप होना।

४- भगवान निर्पेक्षोपाय स्वरूप हैं, स्वयं जीव को परम पद देने के लिए आतुर रहते हैं। वे पुरुषकार की भी अपेक्षा नहीं रखते किन्तु श्री जी वात्सल्यभाव परिपूर्ण अनन्तानंत माताओं के प्यार से संयुक्त जननीपन के सहज स्वभाव से परम पिता भगवान से अधिक आतुर होकर उनके चेतनोंद्धार करने से पहले जीव को अपनाने की प्रार्थना करने लगती हैं, जो उनके स्वरूपानुकूल है।

५- भगवान अपने को प्राप्त हुये चेतन को 'श्री जी' के समान ही अनुभव करने योग्य मानते हैं, अस्तु श्री-रस के सदृश्य, चेतन-रस का आस्वाद लेते हुए भी अतृप्त से बने रहते हैं।

आपके सृष्टि रचने और अवतार लेने का प्रयोजन एक मात्र जीव-लाभ के लिये ही है, एवं आपका परम परत्व, परम सौन्दर्य और सर्व सौलभ्य त्रय पर्व भी चेतन प्राप्ति के काम में आने के लिए ही है।

आपकी महिम्नता के विषय में शेष शारदा और शंभु के मुख से भी करोड़ों कल्पों तक जो कुछ भी कहा जायगा वह अधूरा ही रहेगा, क्योंकि

आप अनन्त हैं। आप स्वयं अपना परिज्ञान रखते हुए भी, अपने नाम, रूप, लीला और धाम के महिमा का ओर-छोर नहीं पाते, किन्तु आप श्री के सर्वज्ञता में न्यूनता का दर्शन नहीं होता।

---o---

१२८. वैष्णव दर्शन में आचार्य का सर्वोत्तम स्थान

१- आचार्यवान पुरुष ही परम तत्व के ज्ञान में तथा उसके दर्शन में और उसी में प्रविष्ट होने में समर्थ हो सकता है।

२- भगवान ही (पूर्णतम परब्रह्म) अपनी इच्छा से अपने को (चेतन को) अपनाने की आतुरता से अपना ज्ञान कराने के लिए आचार्य का स्वरूप धारण करते हैं।

३- अनेक जन्मों के स्वाध्यायादि तपश्चर्या से प्रसन्न होकर चेतन को दर्शन देने के लिये सर्वेश्वर भगवान नरावतार लेकर आचार्य रूप से सुलभ होते हैं।

४- आचार्य, वेद-वर्णित 'तत्वमस्यादि' महा वाक्यों के लक्ष्य हैं। वे आकाश से अधिक अवकाश वाले, महान, निर्मल प्रकाश स्वरूप, त्रिगुणातीत ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय संज्ञा से संयुक्त तथा सम्पूर्ण त्रिपुटिकाओं से परे हैं। वे जीव और ईश्वर दोनों का उपकार करते हैं ।

५- आचार्य पद इतना सर्वोत्तम और श्लाघनीय तथा स्पृहणीय है, कि जिसकी परम पद प्रतिष्ठित भगवान भी केवल स्पृहा ही नहीं करते स्वयं आचार्यत्व कर उसका अनुभव करते देखे गये हैं, आचार्य परम्परा इस विषय में प्रमाण है।

नोट : सदाचार्य से सम्बन्धित चेतनों के परम पद प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं है, चाहे वे अनुष्ठानी हों या अननुष्ठानी, क्योंकि भगवान आचार्य कृत्य स्मरण कर ही प्रसन्न हो जाते हैं।

१२९. वैष्णव दर्शन में भागवतों का सर्वोच्च स्थान

१-भगवान और भगवद्भक्तों में सदा भेद का अभाव है।

२- भागवताराधन से भगवान चरम तृप्ति का अनुभव करते हैं, आप श्री को केवल अपनी सेवा असन्तोषप्रद एवं रोष को उत्पन्न करने

वाली होती है। भागवतों का अपचार तो भगवान को असह्य ही हो जाता है।

३- जिस चेतन को भागवत जन 'हमारे हो' कह देते हैं, उसे भगवान बिना विचार किए अपनाकर अपना पद एवं परम पुरुषार्थ स्वरूप कैंकर्य प्रदान करते हैं। जिसे भक्त नहीं अपनाते उसे भगवान भूलकर भी नहीं स्वीकार करते।

४- भागवज्जन गुरु-ज्ञान को विवर्धन करने वाले एवं भागवती-वार्ता-रूपी-हितकर-दुग्ध पिलाकर माता के समान चेतन रूपी पुत्र को पुष्ट करने वाले होते हैं।

५- वेदाम्भोधि से भगवत-कथामृत निकालकर जन समूह को उसकी सुलभता प्रदान करने वाले भागवत गण ही होते हैं। यदि भक्त न होते तो भगवान के नाम, रूप, लीला और धाम का विस्तार कौन करता।

नोट :- भगवान के अनुभव के समान भागवतों का अनुभव भी परमानन्दमय होता है।

---o---

१३०. वैष्णवत्व प्राप्ति में पाँच के पाँच प्रकार के कृत्य

१- आचार्यानुराग पूर्ण आचार्य शुश्रुषा तथा उनमें कृतज्ञता, उपाय में (भगवान में) अटल विश्वास यह अधिकारी (चेतन) का कार्य है।

२- अज्ञात-ज्ञापन (अविदित तात्विक बातों को विदित करना) तथा भगवान में प्रीति विवर्धन के उपायों को करते रहना, यह आचार्य-कार्य है।

३- अपराधों को क्षमा करना तथा कैंकर्य वृद्धि करना पुरुषकार का कार्य है।

४- विरोधि-निवृत्ति तथा फल (कैंकर्य) की प्राप्ति कराना उपाय कृत्य है।

५- आचार्य और पुरुषकार तथा उपायोपेय के विषय में श्रद्धा,

विश्वास और प्रीति उत्पन्न कर गुरु ज्ञान का विवर्धन करते रहना भागवतों का कार्य है।

नोट :- अधिकारी चेतन जब निश्चिन्त होकर अपने कार्य करने में सस्नेह तल्लीन हो जाता है, तो शेष तीनों के कार्य की पूर्णता में विलम्ब नहीं होता।

---०---

१३१. वैष्णवीय दर्शन में पाँच के पाँच स्वरूप

१- आत्मा : विषय है, अर्थात भोग्य पदार्थ।

२- ईश्वर : विषयी है, अर्थात सर्व भोक्ता है।

३- आचार्य : विषय (चेतन) के शुद्ध करने वाले हैं।

४- श्री जी : आत्मा के भगवदनुभव में वृद्धि करने वाली हैं।

५- श्री वैष्णव : विषयानुभव में सहायक हैं।

---०---

१३२. विष्णु स्वरूप वैष्णव धाम (परमपद) प्राप्त वैष्णव की परम पुरुषार्थ प्राप्ति दशा

१- परम पद (भगवद्धाम को) भगवान के अकारण कृपा के द्वारा प्राप्त कर वैष्णव कृतकृत्य हो जाता है। युगल जोड़ी (भगवती श्री जी सहित भगवान) का दर्शन निर्निमेष करता हुआ अहमन्नम्, त्वमन्नाद: पुकार - पुकार कर प्रेम विभोर युगल विभूतियों के पादपद्मों में लोट जाता है। तुरन्त भगवान उसे उठाकर कौस्तुभमणि के सदृश्य गले से लगा लेते हैं, तदनन्तर अनन्त वात्सल्य-रस के स्रोत से आश्रित जन को प्लावित कर अपने अनन्त प्यार को प्रदान करते हुये अपना निजी स्नेह-भाजन बनाकर स्वकैंकर्यार्ह विग्रह परिग्रह प्रदान कर देते हैं।

२- अपना सर्वस्व अर्पण करने वाले वैष्णव को भगवान भी अपना सर्वस्व प्रदान कर देते हैं। भक्त, भगवती भास्वती पूर्ण कृपा को प्राप्त कर आनन्दमय, रसमय, प्रेममय, प्रभुमय, प्रकाशमय, विज्ञानमय, मंगलमय, अमृतमय स्वरूप में स्थित हो जाता है।

३- आश्रित जन के आनन्द से भगवान को आनन्दित देख-देखकर मंगलानुशासन करता हुआ वैष्णव अत्यधिक आनन्द का अनुभव करने लगता है, तब भगवान भक्त को परमानन्दित देखकर अनंतानन्द में विभोर हो जाते हैं। भक्त और भगवान के आनन्द का क्रम इसी प्रकार क्षण-क्षण वर्धमान होता रहता है।

४- तत् सुख सुखी दास भूत वैष्णव, भगवत कृपा से सकल विधि कैंकर्य करने की योग्यता को प्राप्त कर (जिसे परम पुरुषार्थ कहते हैं) श्री जी सहित भगवान का भोग्य अपने को समझता हुआ सेवा परायण हो जाता है। जिस रूप से, जिस काल, जिस रस का, जैसा आस्वाद प्रभु लेना चाहते हैं, तत् क्षण, उस रूप से, उस रस का वैसा आनन्द देने में वह सहज समर्थ होता है। कभी शय्या, कभी आभूषण, कभी पुष्पहार, कभी पक्षी, कभी दास-दासी, कभी सखा-सखी इत्यादि इत्यादि। प्रभु रुख को देखकर उनकी उपभोग वस्तु बन जाता है, पर सच्चिदानन्दत्व सहज साथ में रहता है।

५- प्रेम से ओत-प्रोत प्रेमी, सजातियों से मिलकर प्रेमास्पद के साथ उन्हीं की अध्यक्षता में उन्हीं के सुख के लिये अनवरत लीला करते रहते हैं। उस रस विवर्धनी लीला में करोड़ों कल्पों के बीतने पर भी वर्तमान क्षण ही बना रहता है। भूत, भविष्य का वहाँ अभाव है। वहाँ न दिन है न रात, न सूर्य है न चन्द्रमा और न अग्नि न, षटोर्मियाँ वह एकरस परम प्रकाशमय, परम शीतल, सच्चिदानंदमयी लीला भूमि, लीला निकुंजों एवं लीला सामग्रियों और लीला परिकरों के सहित रसिक जन-मन-मोहनी, रसमय भव्य-भावों से भावित दिव्यातिदिव्य, दिव्य दृष्टि से दर्शन करने योग्य है।

---o---

१३३. वैष्णवीय परम पद सोपान

१-निर्हेतुक भगवत कृपा कटाक्षपात :- अनादि पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ कर्म के प्रवाह से देव, तिर्यक, मनुष्य और स्थावर शरीरों में प्रवेश करके भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक, अतल वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल

नामक चतुर्दश भुवनों में सदा संचार करते हुये जीव की दयनीय दुर्दशा को देखकर दयासिन्धु का हृदय द्रवीभूत होकर अपने को प्राप्त कराने के लिये इस जीव पर प्रथम निर्हेतुक कृपा कटाक्ष करते हैं, जिसके कारण चेतन से कुछ अज्ञात सुकृत बन जाते हैं।

२- **अज्ञात सुकृत :-** अज्ञात सुकृत को ग्रहण करके परम दयालु भगवान जीव के देव, तिर्यक और स्थावर तीन प्रकार के शरीरों को दूर करके मनुष्य शरीर में प्रवेश कराकर मन, वाणी, शरीर तीनों करण से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में मानसिक, कायिक और वाचिक तीन प्रकार के शुभ कर्मों का सम्बन्ध जब कराते हैं तब चेतन में अद्वेष भाव जाग्रत होता है।

३- **अद्वेष भाव :-** अद्वेष भाव के उत्पन्न होने पर आस्तिक भाव उदय हो जाता है, जिससे चेतन ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों तत्वों की मान्यता स्वीकार करके भगवद्भागवताभिमुख्य ग्रहण कर लेता है। अब तक अनन्त काल से द्वेषी बना हुआ प्रभु को पीठ देकर स्वर्गादि कर्म-फलों को ही परम पुरुषार्थ समझता था।

४- **भगवद्भागवत की अभिमुख्यता :-** भगवद्भागवत की अभिमुख्यता अपनाने से संतों के सत्कार और उनके सत्संग में तन-मन-धन लगने लगता है। श्री हरि-गुण श्रवण करने से रति उत्पन्न होने लगती है, समय का भी सदुपयोग होने से व्यर्थ काल के हानि से चेतन बच जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप त्याज्योपादेय विभाग के परिज्ञान की रुचि उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् सत्संग से संग्रहणीय और असंग्रहणीय तत्व का बोध हो जाता है। सर्वदेव नमस्कृत, सर्वेश्वर, शक्ति त्रय के प्रिय पति भगवान सबके आत्मा हैं। देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित हैं क्योंकि वे सबमें व्याप्त सबके निमित्त, उपादान और सहकारी कारण हैं। अपने सौहार्द्र से जीव के तीन विरोधी, स्वस्वातंत्र्य, अन्य शेषत्व और देहात्माभिमान को दूर करके चेतन में आनुषाङ्गिक, प्रासंगिक और याद्दृच्छिक तीन सुकृतों का योग करते हैं और त्रिलोक के भोग पदार्थों से इसकी रुचि हटाकर आगे की कक्षाओं में इस प्रकार प्रवेश कराते हैं, जैसे वात्सल्य भरी माता अपने नन्हे-मुन्ने बच्चे की अंगुली पकड़कर धीरे-धीरे गन्तव्य स्थान पर ले जाती है।

५- **त्याज्योपादेय विभाग :-** त्याज्योपादेय विभाग ज्ञान से स्व-स्वतंत्रता, अन्यदासता और देहाभिमान तथा इनसे उत्पन्न कर्म व उनके फल, चेतन के अनुरूप न होने से त्याज्य है एवं भगवत पारतंत्र्य, भगवद्दासता, भगवद्भोग्यता स्वरूपानुकूल होने से उपादेय है। चित्त में बैठते ही सत् संभाषण होने लगता है।

६- **सत्-संभाषण :-** सत् संभाषण अर्थात सत्य, प्रिय, परहित सनी, युक्तिपूर्ण आवश्यक वाणी का विनियोग एवं भगवान के नाम, गुण, महिमा व जन्म, कर्म का कीर्तन। दोनों प्रकार की वाक् विशेषता प्राकट्य के पश्चात् सदाचार्य समाश्रयण की तीव्रतर इच्छा उत्पन्न हो जाती है।

७- **सदाचार्य समाश्रयण :-** सदाचार्य समाश्रयण होने पर आचार्य अज्ञापित अर्थों का अर्थात् सत् और असत् तत्व का विवेचन कर तत्व त्रय का ज्ञान रहस्य त्रयार्थज्ञान, अर्थ-पंचक तत्व का बोध एवं भगवत सम्बन्धादि दृढ़ाकर चेतन को तदनुष्ठान में लगा देते हैं, तब तो उसे त्याज्योपादेय का विनिश्चय हो जाता है। प्रथम तो जानकारी मात्र हुई थी, विनिश्चय नहीं हुआ था।

८- **त्याज्योपादेय विनिश्चय :-** त्याज्योपादेय विनिश्चय होते ही चेतन, प्रभु प्रतिकूलता का सर्वथा परित्याग कर अनुकूलता को ग्रहण कर लेता है, स्वस्वरूप और परस्वरूप के अनुकूल अनुवर्तन करते ही प्राप्यान्तर वैराग्य और परम प्राप्य में अभिनिवेष उत्पन्न हो जाता है।

९- **प्राप्यान्तर वैराग्य और परम प्राप्याभिनिवेष :-** प्राप्यान्तर वैराग्य और परम प्राप्याभिनिवेष चेतन में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष से विरति (श्रुत और दृष्ट पदार्थ से वितृष्णता) उत्पन्न कर भगवच्छेशत्वानुकूल उनके कैंकर्य में परम प्रीति प्रादुर्भूत करते हैं, तत्पश्चात उक्त दोनों की मूल भूता सिद्धोपाय स्वरूपा प्रभु की निर्भरता अर्थात् परगत-स्वीकृति चेतन में आ जाती है।

१०- **सिद्धोपाय स्वीकार :-** सिद्धोपाय स्वीकार होते ही प्रपत्ति का दोष दूर हो जाता है अर्थात् शरणागति चेतन के अनुरूप अधिकार बताने वाली है, उपायतया उसका ग्रहण नहीं होता, उपायोपेय भगवान हैं, ऐसा ज्ञान दृढ़ हो जाता है, अस्तु, जीव भगवत कृपा को ही उपाय

स्वरूप में स्वीकार करता है। स्वीकार करते ही अकिंचनत्व, अनन्य गतित्व और आर्तित्व दशायें उपस्थित होकर अध्यवसाय पूर्वक प्रभु प्राप्ति में त्वरा उत्पन्न कर देती हैं।

११- **भगवत प्राप्ति की त्वरा :-** भगवत् प्राप्ति की त्वरा में इसके पाप और पुण्य सभी जल जाते हैं, क्योंकि विरहाग्नि में कर्म बीज का भस्मीभूत हो जाना स्वाभाविक है। विरह की दसों दशायें जीव का वरण कर लेती हैं, शरीर छूट जाने के लिये बार-बार प्रभु से प्रार्थना करता है। अत्यंत आर्ति के कारण प्राण छटपटाने लगते हैं, जैसे जल से निकाल देने पर मछली के प्राण। तब यह ''अहंस्मरामि'' कहने वाले भगवान के स्मृति का विषय बन जाता है।

१२- **अहं स्मरामि कहने वाले भगवान के स्मृति का विषय :-** अहं स्मरामि कहने वाले भगवान के स्मृति का विषय जब यह जीव बन जाता है, तब भूत-सूक्ष्म शरीर का परिष्वङ्ग हो जाता है।

१३- **भूत-सूक्ष्म शरीर परिष्वङ्ग :-** भूत-सूक्ष्म शरीर परिष्वङ्ग का अर्थ है, सूक्ष्म शरीर के भावों का प्रभाव जो भूत शरीर में प्रगट होता था, वह भाव भूत देह में दृष्टिगोचर न होकर केवल सूक्ष्म शरीर में सन्निहित रहना अर्थात् दो जगह के भावों का एक जगह हो जाना तत्पश्चात आत्मा का परमात्म संसर्ग होता है।

१४- **आत्म-परमात्म संसर्ग :-** आत्म-परमात्म संसर्ग माने जीव और ईश का सहज स्नेह प्रत्यक्ष प्रगट हो जाना। दोनों सजातीय हैं, एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते, अस्तु जीव उसके यहाँ उसी के पथ से उसी के साथ इस शरीर से निर्गमन करने की तैयारी करता है, तत्काल भगवान का हार्दानुग्रह प्रगट होता है।

१५- **भगवदीय हार्दानुग्रह :-** भगवदीय हार्दानुग्रह से मार्ग विशेष में प्रकाश हो जाता है, अर्थात जब जीव उत्क्रमण करने को चाहता है, तब ईश्वर अपने अनादि सखा पर हार्दिक अनुग्रह करके सुषुम्ना नाड़ी (जिसे मार्ग विशेष के नाम से कहा गया है) के मार्ग को प्रकाशमय कर देते हैं, तत्पश्चात् जीवात्मा का हृदय-गुहा से निर्गमन होता है।

१६- **हृदय-गुहा से निर्गमन :-** हृदय गुहा से निर्गमन कर चेतन

सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से प्रविष्ट होकर मूर्धन्य नाड़ी में पहुँचता है पुन: वहाँ से भी उसका निष्क्रमण हो जाता है।

१७- **मूर्धन्य नाड़ी निष्क्रमण** :- मूर्धन्य-नाड़ी-निष्क्रमण अर्थात शिरस्थ ब्रह्म-पुर में पहुँचकर ब्रह्म रंध्र को भेदकर जीवात्मा का निष्क्रमण होना तत्पश्चात् वह अर्चिरादि मार्ग का अनुगमन करता है।

१८- **अर्चिरादि मार्गानुगमन** :- अर्चिरादि मार्गानुगमन यथा श्रुति शास्त्रों में वर्णन है, उसी क्रम से गमन करता हुआ अपने अतिवाहिक शरीर से चेतन पूजित होता है।

१९- **अतिवाहिक सत्कार** :- अतिवाहिक सत्कार का अर्थ है, सूर्य मंडल को भेद करके जाने में आवरण के भीतर जो-जो लोक पंथ में पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ के लोक निवासियों एवं लोकेशों से जीव के सूक्ष्म शरीर का अत्यन्त सत्कारित होना इसके पश्चात् आवरणातिक्रमण होता है।

२०- **आवरणातिक्रमण** :- आवरणातिक्रमण माने अष्ट प्रकृति के उस पार की अत्यन्त समीपता अर्थात सीमा लंघन में पहुँच जाना।

२१- **प्रकृति लंघन** :- प्रकृति लंघन करते ही प्रकृति मंडल के उस पार अर्थात् अप्राकृत देश में यह जीवात्मा प्राप्त हो जाता है, पुन: बिरजा स्नान करने का सौभाग्य प्राप्त करता है।

२२- **बिरजा स्नान** :-बिरजा नदी अप्राकृत देश में बहती हुई स्नान करने वाले चेतन को विरज अर्थात सूक्ष्म-कारणादि शरीर से पृथक कर देती है।

२३- **सूक्ष्म-शरीर विश्लेष** :- सूक्ष्म शरीर के विश्लेष होते ही चेतन में परम शुद्ध चेतनत्व को छोड़कर और कुछ नहीं अवशेष रहता, अपहत् पाप्मत्वादि गुण गण प्रादुर्भूत हो जाते हैं।

२४- **अपहत् पाप्मत्वादि गुण-गण प्रादुर्भूत** :- अपहत् पाप्मत्वादि गुण-गण प्रादुर्भूत का अर्थ है महादानि भगवान की इच्छा से भगवत के श्रेयातिश्रेय कल्याण-गुणों का चेतन में उदय हो जाना। ईश्वर गुण-गण उत्पन्न होने पर जीव को अमानव कर-स्पर्श प्राप्त होता है।

२५- **अमानव कर-स्पर्श :-** अमानव कर स्पर्श पाकर जीव को भगवत संकल्प से कल्पित दिव्य देह की प्राप्ति होती है।

२६- **भगवत-संकल्प कल्पित दिव्य देह :-** भगवत-संकल्प से कल्पित दिव्य देह सच्चिदानन्दमयी होती है अर्थात् जिस तत्व का देही होता है, उसी तत्व की देह भी होती है। उसके पश्चात् अकाल काल्य दिव्य देश की प्राप्ति होती है।

२७- **अकाल काल्य दिव्य देश की प्राप्ति :-** अकाल काल्य दिव्य देश की प्राप्ति का अर्थ है, अपुनरावर्ती धाम की प्राप्ति। जहाँ काल की न कलना है, न सूर्य है न चन्द्र। न अग्नि है न षटोर्मियाँ। वह सच्चिदानन्दमय, परमात्म तत्व से अभिन्न होता है, तत्पश्चात चेतन सर में स्नान किया जाता है।

२८- **स्मदीय सर स्नान :-** स्मदीय सर स्नान करने का अर्थ है चेतन का शेषत्व रस में प्लावित हो जाना। स्नान के पश्चात् दिव्यालंकारों से जीव अलंकृत हो जाता है।

२९- **दिव्यालंकारों से अलंकृत :-** दिव्यालंकारों से अलंकृत चेतन नख से शिख पर्यन्त सर्वाङ्ग शोभा सम्पन्न होकर चमत्कृत होता है, पुन: विमानारूढ़ होता है।

३०- **दिव्य विमानारोहण :-** दिव्य विमानारोहण होने पर चेतन दिव्य विमान द्वारा आगे वेग गति से गमन करता हुआ तिल्याकांतार प्रवेश करता है।

३१- **तिल्याकांतार प्रवेश :-** तिल्याकांतार प्रवेश कर दिव्य वनों का विहार स्थली के दर्शन से परमानन्द का अनुभव करता हुआ आगे दिव्य अप्सराओं से सत्कारित होता है।

३२- **दिव्यापसरा सत्कार :-** दिव्य अपसराओं से सम्मानित चेतन भगवत कृपा प्रसाद का अनुसंधान करता हुआ आगे तिल्य गंध में प्रवेश करता है।

३३- **तिल्य-गंध प्रवेश :-** तिल्य गंध प्रवेश करते ही जीव का दिव्य वपु दिव्य गंधमय हो जाता है, तत्पश्चात् उसका ब्रह्म गंध प्रवेश होता है।

३४- **ब्रह्म-गंध प्रवेश :-** ब्रह्म-गंध प्रवेश चेतन को ब्रह्म-गंधमय बना देता है, तत्पश्चात् वह अप्राकृत गोलोक में प्रवेश करता है।

३५- **अप्राकृत गोलोक प्रवेश :-** अप्राकृत अर्थात् सच्चिदानन्द मय गोलोक में पहुँचकर जीव उस लोक का अनुभव करता हुआ परम तृप्ति को प्राप्त होता है, तत्पश्चात् उसे दिव्य नगर की प्राप्ति का सुअवसर आता है।

३६- **दिव्य नगर की प्राप्ति :-** दिव्य नगर की प्राप्ति ही वैष्णवों के उपासनानुसार साकेत, वृन्दावन और बैकुण्ठ प्राप्ति के नाम से पुकारी जाती है। नगर प्रवेश करते ही दिव्य-सूरिगणों का प्रत्युद्गमन होता है।

३७- **सूरिपरिषत्प्रत्युद्गमन :-** सूरिपरिषत्प्रत्युद्गमन अर्थात दिव्य सूरि गण प्रभु प्राप्ति करने वाले चेतन को दिव्य धाम में आया हुआ जानकर अपने-अपने आलयों से उठकर अगुआनी करके उसका सम्मान करते हैं, जैसे लोक में दूर देश से आये हुए अपने कुटुम्बी को लोग आगे चलकर आतुरता से मिलते हैं। सबसे सम्मानित चेतन राजमार्ग से गमन करता है।

३८- **राजमार्ग गमन :-** राजमार्ग गमन करते समय जीवात्मा मार्गीय स्त्री-पुरुषों से सुसत्कृत होकर प्रेम का प्रदर्शन करता हुआ ब्रह्म तेज में प्रवेश करता है।

३९- **ब्रह्म तेज-प्रवेश :-** ब्रह्म तेज-प्रवेश होते ही चेतन ब्रह्म-तेज से ब्रह्म तेजोमय होकर प्रथम ब्रह्म-वेश्म के गोपुर की प्राप्ति करता है।

४०- **दिव्य गोपुर प्राप्ति :-** ब्रह्म भवन का गोपुर (ऊँचा द्वार) दूर से भी दर्शन देने वाला, उच्चातिउच्च शोभा की सीमा व द्वारपालों से सेवनीय होता है। आगे चेतन ब्रह्म-वेश्म में प्रवेश करता है।

४१- **ब्रह्म वेश्म प्रवेश :-** ब्रह्म वेश्म प्रवेश करके चेतन के आनन्द-समुद्र का आन्दोलन बड़े वेग से बढ़ने लगता है। दिव्य नेत्रों से दर्शन करता हुआ वह दिव्य मण्डप की प्राप्ति करता है।

४२- **दिव्य मण्डप प्राप्ति :-** दिव्य मण्डप सच्चिदानन्दमय कल्प वृक्ष के नीचे सच्चिदानन्दमय तत्वों से निर्मित वृहद विस्तार वाला होता है, जहाँ बीच में दिव्य रत्न वेदिका के ऊपर दिव्य रत्न

सिंहासन शोभायमान होता है, जिसमें बने हुए दिव्य अष्ट दलीय कमल-कर्णिका पर श्री जी सहित श्रीपति विराजते हैं। परिकर बृन्द सेवा में संलग्न चारों ओर से उन्हें आवृत किये रहते हैं। वहाँ पहुँचकर चेतन को दिव्य परिषत्प्राप्ति होती है।

४३- **दिव्य परिषत्प्राप्ति :-** दिव्य परिषत्प्राप्ति का अर्थ है, युगल जोड़ी (श्री सहित भगवान) के दिव्य परिकरों का सादर सप्रेम सम्मिलन, वह भागवतानुभव जनित सुख वहाँ पहुँचने पर ही अनुभव किया जा सकता है, तत्पश्चात चेतन को सपत्नीक सर्वेश्वर का दर्शन प्राप्त होता है।

४४- **सपत्नीक सर्वेश्वर दर्शन प्राप्ति :-** सपत्नीक सर्वेश्वर दर्शन प्राप्ति आर्त-प्रपन्न की भगवद्विरह-वह्नि बुझाकर हृदय को अत्यन्त शीतल बना देती है। चेतन आनन्दमय बन जाता है। अपनी दिव्य आँखों से अपलक देखता हुआ ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों प्रभु के नव-नव प्रवर्धमान सौन्दर्य-सिन्धु के दर्शन अधिकाधिक उसे होते जाते हैं। इस प्रकार के दर्शन को प्राप्त कर स्तुति प्रणामांजलि प्रमुख ससंभ्रमानुवर्तन करता है।

४५- **स्तुति प्रणमांजलि प्रमुख ससंभ्रमानुवर्तन :-** स्तुति प्रणामांजलि प्रमुख ससंभ्रमानुवर्तन अर्थात् प्रभु की स्तुति एवं प्रणाम करता हुआ संपुटाञ्जली ससंभ्रम चित्त से चेतन भगवान के सम्मुख चलकर समीप पहुँच जाता है।

४६- **परमात्म-समीप प्राप्ति :-** परमात्म सान्निध्य प्राप्ति होने पर चेतन का शाश्वत सुख-सिन्धु, अधिक-अधिक वृद्धिङ्गत होता जाता है। आचार्यानुकम्पा से समीप पहुँचते ही चरण पीठ पर प्रणाम करने पर भगवान अपने संकल्प से प्रेरित चेतन का हाथ पकड़कर अपनी ओर आकर्षित करते हैं, तब यह पाद-पीठ पर्यङ्कारोहण करता है।

नोट :- परमात्म-पद समीप प्राप्ति से मतलब श्री जी सहित भगवान की प्राप्ति से है, श्री जी प्रभु से संकेत करती हैं, कि यह आपका परम अनुरागी चेतन आपकी निर्हेतुक कृपा से आपको प्राप्त कर लिया, अब आप इसे अपने प्यार का अनुभव करायें तथा स्वयं चेतन लाभ का अपने अनुरूप आस्वाद लें। श्री जी के पुरुषकारत्व को देखकर भगवान उनके

कृपा वात्सल्य को मन में सराहते हुए जीव का हाथ पकड़कर अपनी ओर सादर आकर्षित करके स्वस्वरूपानुकूल स्वभोग के स्पर्शानन्द का अनुभव करते हैं।

४७- **प्रभु-पाद-पीठ-पर्यङ्कारोहण :-** भगवान वात्सल्य भाव से विभोर होकर अनंत काल से बिछुड़े हुये चेतन को देखकर इतने सुखी होते हैं, जितना बहुत दिनों का भूखा रसयुक्त अन्न को देखकर आनन्दित होता है, अस्तु अपने भोग्य चेतन का हाथ पकड़कर अपने अंक में लेने के लिये आतुर हो उठते हैं। प्रभु की इच्छानुसार चलना ही शेष का सहज स्वरूप होने से चेतन भगवत् के पाद पीठ एवं पर्यङ्क में चढ़ जाता है। पुन: उसे भगवदुत्संग संग होता है।

४८- **भगवदुत्संग-संग :-** भगवदुत्संग-संग की प्राप्ति होने पर चेतन प्रभु की गोद में बैठकर परमानन्द में विभोर हो जाता है, पुन: प्रभु की कृपा से भगवद्दर्शन नेत्र भर करके वार्ता करता है।

४९- **आलोकनालापाद्यनुभव :-** आलोकनालापाद्यनुभव अर्थात् भगवदवलोकन करता हुआ वार्तालाप करके परस्पर चेतन-महाचेतन आनन्द मग्न हो जाते हैं, उन दोनों के सुख को तीसरा कौन और कैसे अनुभव करे, पुन: दोनों आलिंगनानुभव करते हैं।

५०- **आलिंगनानुभव :-** परस्पर आलिंगन में अपार आनन्द को प्राप्त कर स्वामी-सेवक दोनों अपने को भूलकर एक हो जाते हैं। प्रेमाद्वैत रसाद्वैत की संज्ञा इसी स्थिति ने पाई है। पुन: चेतन भगवतस्वरूप-गुण विग्रहादि का अनुभव करता है।

५१- **स्वरूप-रूप गुण-गण विग्रहाद्यनुभव :-** स्वरूप-रूप गुण-गण-विग्रहाद्यनुभव अर्थात् चेतन भगवान के सर्व शेषत्व, सर्व भोक्तृत्व, सर्व रक्षकत्व और परम-स्वातंत्रादि वैभवों का तथा प्रभु के परत्व, सौलभ्य, और सौन्दर्यादि दिव्य अनंतानंत कल्याण गुण-गणों के सहित माधुर्य-महोदधि, सौकुमार्य-सागर विशेषण वाले विग्रह का अनुभव करता है, जिससे प्रीति-प्रकर्षता को प्राप्त होती है।

५२- **अनुभव जनित प्रीति-प्रकर्षता :-** अनुभव जनित प्रीति-प्रकर्षता अर्थात् भगवान के रूपादि का अनुभव करके प्रीति पराकाष्ठा पर

पहुँचने पर भी उसी भाँति नित्य बढ़ती रहती है, जैसे समुद्र चन्द्रमा को देखकर सदा वर्धमान होता रहता है। भगवदनुभव से अलम् तृप्ति चेतन को नहीं होती, उसे लगता है, कि भगवान के रूपामृत को पीते ही जायें, पीना कभी इति को न प्राप्त हो।

५३- **नाना विधि विग्रह-परिग्रह :-** नाना विधि विग्रह परिग्रह अर्थात् प्रकर्ष प्रीति के पश्चात् भगवान के संकल्पानुसार चेतन को नाना विधि विग्रह-परिग्रह प्राप्त होता है, जिससे वह प्रभु कैंकर्य के लिये कैंकर्यानुसार विग्रह धारण कर लेता है अर्थात् एक साथ ही अनेक कैंकर्य के लिये अनेक विग्रह बनाकर प्रभु कैंकर्य परायण होता है।

५४- **सर्व देश सर्व काल सर्वावस्थोचित सर्व प्रकार कैंकर्य प्राप्ति :-** सर्व देश सर्व काल सर्वावस्थोचित सर्व प्रकार कैंकर्य प्राप्ति भगवदनुकम्पा से चेतन को परम तृप्ति देने वाली स्वरूपानुकूल होती है, यही उसका परम पुरुषार्थ है। इस प्राप्ति के आगे कोई प्राप्तव्य वस्तु शेष नहीं रहती। चेतन परम तत्व भगवान को तथा परमात्मा जीवात्मा को प्राप्त कर परम लाभ का अनुभव करते हैं, यही दोनों के सहज सम्बन्ध एवं प्रीति का परम फल है।

नोट :- श्री जी सहित भगवान का कैंकर्य ही चेतन का परम पुरुषार्थ है, प्रपत्ति-काल में चेतन श्री जी को पुरुषकार रूप में वरण करता है किन्तु भोग्य काल में मिथुन जोड़ी को अर्थात् श्री जी सहित भगवान को अपना भोक्ता स्वीकार करके दोनों के प्रीत्यर्थ एवं सुखार्थ निष्काम कैंकर्य करता है।

---o---

१३४. वैष्णव-दर्शन का दर्शन

१- वैष्णव-दर्शन में आचार्य प्रमाता है, मंत्रद्धय प्रमाण है तथा पूर्णातिपूर्ण परब्रह्म पद वाच्य अच्युत धाम में अपने दिव्य परिकरों सहित विहार करने वाले श्री जी से संयुक्त भगवान प्रमेय हैं।

२- वैष्णव-दर्शन में वेद प्रमाता है, मूल मंत्र प्रमाण है तथा अपुनरावर्ती अव्यक्त दिव्य सच्चिदानन्द धाम में अपने पार्षदों सहित सदा नव-नव लीला परायण युगल जोड़ी (श्री से संयुक्त भगवान) प्रमेय है।

३- वैष्णव-दर्शन में स्वयं भगवान प्रमाता हैं, चरम मंत्र प्रमाण है। सर्वलोक शारण्य, सर्वेश्वर, सर्वभूतात्मा, सर्वदेश वन्दनीय, परमात्म पद वाच्य स्वयं भगवान प्रमेय हैं, जो प्रकृति से परे अप्राकृत धाम में अपने परिकरों सहित सच्चिदानन्दमय विग्रहवान विराजते हैं।

४- वैष्णव-दर्शन में वेदोपब्रंहण, इतिहास, पुराण, स्मृती, प्रमाता हैं, उनके सार गर्भित छन्द-प्रबन्ध प्रमाण हैं, भक्त भावन, भगवान प्रमेय हैं, यह अर्थ हर स्थान में पूर्ण विवरण के साथ देखा जा सकता है।

५- वैष्णव-दर्शन में महेश पद प्राप्त श्रीमान् शंकर, लोक स्रष्टा ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुक, सनकादि, शांडिल्य, गर्ग, विष्णु मुनि कौंडिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान, विभीषण, प्रह्लाद, ध्रुव, रुक्मांगद, विश्वामित्र, वशिष्ट, वाल्मीकि, पुण्डरीक, अम्बरीष, सूत, शौनक इत्यादि परम भागवत प्रभृत गण प्रमाता हैं। इन भागवतों के आचरण और सिद्धान्त-वाक्य प्रमाण हैं तथा इन सभी के आराध्य इष्टदेव परमपद प्रतिष्ठित भगवान प्रमेय हैं।

नोट- वैष्णवों को अपने-अपने उपास्य भगवान के विग्रह एवं नामानुरूप दिव्य धाम का नाम भी समझ लेना चाहिये।

---o---

१३५. पूर्वाचार्यों के प्रबन्धों से चयन की हुई वार्तामणि की वैष्णवीय सुभाषित रत्नमाला

१- जिस प्रपन्न चेतन को महोपकार स्वसद्गुरु के विषय में कृतज्ञता, प्रीति, प्रतीति, उनके वियोग में भय, साथ रहने में अत्यन्त रुचि, मंगलानुशासन, आचार्य देह की चिन्ता और अनुभव की इच्छा नामक गुण रहते हैं, वही आत्मज्ञानी है।

२- शिष्य को चाहिए, कि आचार्य की प्रसन्नता को (शिष्य के संकोच एवं भय से जो बनी है) क्रोध समझे तथा क्रोध को (जो अनुचित कार्य देखकर शिक्षार्थ उत्पन्न होता है) प्रसन्नता समझे।

३- आचार्य ज्ञान-प्रदाता हैं। श्री वैष्णव ज्ञान-विवर्धक हैं, भगवान ज्ञेय अर्थात ज्ञान के विषय हैं, ज्ञान का फल कैंकर्य है। फल की मधुरता भागवत कैंकर्य है।

४- अर्थासक्त (अर्थ प्रवण) को द्रव्यादि की अत्यन्त अपेक्षा रहने से न कोई बन्धु होता न कोई आचार्य। विषयी-पुरुष को न लज्जा होती है न भय। क्षुधार्त को न कोई विवेक होता न कोई नियम। ज्ञानी को (प्रेमी को) न निद्रा होती और न सुख।

५- यदि आचार्य का कोई प्रत्युपकार करना चाहे, तो चार विभूति और दो ईश्वर होने चाहिये।

६- अर्थ और कामोपभोग में अरुचि उत्पन्न कर भगवद्भागवत में अत्यन्त प्रीति को प्रगट करने वाले ही आचार्य पद के योग्य हैं।

७- शिष्य को अपना सर्वस्व परम पद प्रदायक ज्ञान देकर जो शिष्य के हाथ के नीचे अपना हाथ रखने की इच्छा नहीं रखते, वही सदाचार्य हैं।

८- शिष्य के अपने प्रति अपराध करने पर भी जिसके हृदय में उसका अहित चिन्तन न होकर कल्याण कामना जाग जाती है, वही सदाचार्य है।

९- नन्हें शिशु को रुग्णावस्था में देखकर वात्सल्य भाव भरी माता जैसे स्वयं औषध सेवन कर बच्चे को स्वस्थ बनाती है, उसी प्रकार शिष्य को साधन हीन भव-रोग से व्यथित देखकर जो स्वयं, सिद्धोपायादि साधन रूपी औषध खाकर निरोग बनाते हैं, वही सदाचार्य है।

१०- जो अपने आचार्यपने का अभिमान न रखते हुये स्वरूपानुरूप अनुष्ठानों एवं आचरणों से शिष्य समुदाय को शिक्षा देता रहता है, वही सदाचार्य है।

११- चेतन (जीव) स्वरूपिणी कन्या को जो सद्गुरु-स्वरूप-पिता, भगवान रूपी वर को, गुरु परम्परा रूपी पुरुषकार द्वारा मंत्रद्वय पढ़कर दान कर देता है, वही सदाचार्य है।

१२- आचार्य-वरण किये हुये शरणागत अधिकारी चेतन को अहंकारादि से संयुक्त होने पर भी त्याग न कर भगवान स्वीकार करते हैं अर्थात् अपने भोग में उसका विनियोग करते हैं।

१३- जैसे कृषक भोगकाल में धान की भूसी को पृथक कर सिद्ध

चावल को प्रेमपूर्वक पाते हैं, वैसे ही भगवान भोगानुभव समय प्रपन्न जीव के अहंकार और ममकार रूपी ऊपरी मैल को छुड़ाकर उसका अनुभव करते हैं।

१४- जिस प्रकार गाय अभी उत्पन्न हुये बछड़े के शरीर पर के मल को भोग्य समझकर चाट जाती है, उसी प्रकार प्रपन्न जीवों अनन्तापराधों और दोषों को भोग्यता बुद्धि से भेंट समझकर भगवान स्वीकार करते हैं, क्योंकि आप वात्सल्य भाव से भरपूर भरे रहते हैं।

१५- ''परित्यज्य'' और ''शरणं प्रपद्ये'' उपाय नहीं है, अर्थात् प्रतिकूलोपाय का त्याग और सिद्धोपाय का ग्रहण उपाय नहीं है। त्याग कराकर ग्रहण कराने वाले की कृपा उपाय है।

१६- ईश्वर को उपाय मानना, भूखे परमात्मा को सुन्दर स्वाद युक्त भोजन समर्पण कर परम प्रसन्न करना है, इतरोपाय स्वीकार करना अनुभव काल में सामने से भोजन थार अपहृत कर लेने के समान है।

१७- परम पुरुषार्थ स्वरुप कैंकर्य इस लोक में शेषत्वानुकूल होता है, किन्तु मुक्त दशा में (भगवद्धाम में) भगवदिच्छानुसार होता है।

१८- प्राप्य परमात्मा के अतिरिक्त विषय सुख की कामना के लिये शास्त्र निषेध करते हैं। साधनान्तरों के ग्रहण करने की इच्छा को स्वस्वरूपानुरूप प्रभु पारतन्त्र्य रोकता है। सिद्ध साधन प्रपत्ति को उपायतया स्वीकार करने से भगवदेकोपायत्व स्वरूप अवरोध करता है।

१९- स्वतंत्रता को विवर्धन करने वाले संसारी सुख में अरुचि, पारतन्त्र्योत्पादक भगवद्भागवत कैंकर्य में अत्यन्त रुचि, ज्ञानानुष्ठानों में प्रीति, प्रपन्न प्रभु-प्रेमियों के सतसंग का अनवरत सेवन और प्रेमी परिकरों के बीच विराजित श्री सहित भगवान के धाम में पहुंचकर स्व-प्रयोजन निवृत्ति पूर्वक उनके कैंकर्य प्राप्त करने का लक्ष्य बना रहना शरणागत चेतन की निष्ठा है।

२०- भव-भीति, प्राप्य-प्रेम, आकिंचन्य, अनन्य गतित्व, आर्तित्व, स्वदोष-ज्ञान, स्वरूप-ज्ञान एवं उसका प्रकाश, अधिकारी प्रपन्न चेतन का स्वरूप है।

२१- मुमुक्ष, वही है, जिसे यह दृष्ट संसार न दीख पड़े तथा न दीखने वाला परम पद दीखने लगे।

२२- अधिकारी मुमुक्ष मंत्र रत्न का अनुसंधान करते हुये समाधिस्थ हो जाता है तथा परम पद का सुख अनुभव करने लगता है।

२३- वस्तुमान वस्तु के अनुसार होता है, वस्तु विनियोग के अनुसार होती है, विनियोग भोग के अनुसार होता है, भोग इच्छानुसार होता है, इच्छा आनुगुण्य के अनुसार होती है। आनुगुण्य का अर्थ है, भगवान के अनुकूल होकर रहना।

२४- प्रपत्ति भागवत पर्यन्त होनी चाहिये अर्थात् अकार त्रयानुसंधान भगवद्भागवत (तत् और तदीय) में होना चाहिये।

२५- या तो यह चेतन अनुग्रह पूर्ण आचार्य से दिये हुये मंत्ररत्न का अनुष्ठान कर परम पद प्राप्त कर ले या संसारी बनकर शोक सागर में गोता लगाता रहे। इसके अतिरिक्त इसका कोई कहीं ठिकाना नहीं है।

२६- प्रपत्ति बार-बार करने का कोई नियम नही है, परन्तु प्राप्य वस्तु में अत्यन्त तृष्णा के कारण प्रीति-प्रेरित होकर अनेक बार की जा सकती है।

२७- शरणागत चेतन को पूर्व संचित कर्मों के फल को भोगना नहीं पड़ता क्योंकि सम्मुख होते ही उसके अनंत जन्मों के पाप समूह नष्ट कर दिये जाते हैं।

२८- भगवान प्रपन्न-भक्त की उसी इच्छा को पूर्ण करते हैं, जो उनके चरण कमल के अनुभव के विरुद्ध नहीं होती।

२९- इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति भगवान के हाथ में है, अस्तु चेतन को स्वप्रयत्न परित्याग कर भगवदाश्रयण ग्रहण कर निश्चिन्त हो जाना चाहिये।

३०- शास्त्र में प्रीति-प्रतीति के कारण श्री मूल मंत्र को ग्रहण किया जाता है, शरण्य परमात्मा में प्रेम होने से चरम श्लोक अपनाया जाता है तथा आचार्य में श्रद्धा एवं अभिरूचि होने से मंत्रद्वय ग्रहण किया जाता है।

३१- श्री मूल मंत्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप का विवेचन करता है, श्री चरम मंत्र उपाय के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करता है, श्री मंत्र द्वय मंत्र उपेय का यथार्थ स्वरूप बतलाता है।

३२- अपने सर्व सामर्थ्य का परित्याग कर सर्व समर्थ भगवान के सहारे रहना, प्रपत्ति में उपाय बुद्धि को विसर्जन कर उपेय विषय में त्वरावान होकर रहना पारतन्त्र्य कहलाता है।

३३- सोना जितना ही तपाया जाय, उतना ही निर्मल प्रकाशित होता है उसी प्रकार चेतन का अहंकार-ममकार-मल दूर होने पर ज्ञान-संकोच जब नष्ट होता है तब उसमें चमक आती है।

३४- माता के भरोसे निश्चिन्त बालक जैसे खेल में निमग्न रहता है उसी प्रकार सद्गुरु से प्राप्त श्री मूल-मंत्रार्थ में अधिकार रखता हुआ दृढ़ विश्वासी प्रपन्न चेतन भगवत भरोसे निश्चिन्त रहता है।

३५- स्वस्वरुप (भगवदनन्यार्ह शेषत्व) स्वरूपान्तर (देवतान्तरादि शेषत्व) को नहीं सहता। प्रपत्ति (सिद्धोपाय) उपायान्तर को नहीं सहती स्वरूपानुसार प्रयोजन (भगवत्कैंकर्य) प्रयोजनान्तर (दृष्ट, अदृष्ट, विषयसुख) को नहीं सहता।

३६- वात्सल्यादि गुण विशिष्ट वस्तु आश्रय ग्रहण करने योग्य है। ज्ञान शक्त्यादि गुण विशिष्ट वस्तु उपाय है। समस्त कल्याण गुण-गण-निलय वस्तु भोग्य है।

३७- सर्व-शेषी, सर्व-भोक्ता, सर्व-रक्षक श्री सहित भगवान के मिथुन जोड़ी को छोड़कर अन्यत्र कोई प्राणी, पदार्थ नहीं, जो आश्रयणीय प्रति सम्बन्धी, शेषत्व-प्रति सम्बन्धी और कैंकर्य प्रति सम्बन्धी हो।

३८- १. रक्ष्य-रक्षक सम्बन्ध, २. पिता-पुत्र सम्बन्ध, ३. शेषि-शेष सम्बन्ध, ४. भर्तृ-भार्या सम्बन्ध, ५. ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध, ६. स्व स्वामि सम्बन्ध, ७. शरीर-शरीरी सम्बन्ध, ८. आधार-आधेय सम्बन्ध ९. भोक्त-भोग्य सम्बन्ध, चेतन का भगवान के साथ सहज, स्वाभाविक नित्य और अनागन्तुक है।

३९- पौरुष को आरोपित कर लेने से पारतंत्र्य भाग जाता है, व्यापार अर्थात् स्वप्रयत्न का आरोप कर लेने से अध्यवसाय अर्थात्

महाविश्वास प्रणष्टता को प्राप्त हो जाता है। विषयान्तरों से सम्बन्ध कर लेने पर कैंकर्य विनष्ट हो जाता है।

४०- आत्मा रक्ष्य है, शेष भूत है, कार्य है, शरीरी ईश्वर का शरीर है, धार्य है, व्याप्य है, नियाम्य है, परतंत्र, शरणागत है, सेवक है, किंबहुना दास है, भोग्य है।

४१- ईश्वर रक्षक है, शेषी है, कारण है, शरीरी है, धारक है, व्यापक है, नियन्ता है, स्वतन्त्र है, शरण्य है, सेव्य है, किंबहुना नायक है सबका भोक्ता है।

४२- प्रकृति जड़ है, शरीर है, प्रकाश है, त्रिगुणात्मिका है, बंधन कारक विषय रुचि विवर्धन करने वाली है, ईश्वर के अधीन है, परतंत्र है, असत् और शून्य सी है, विपरीत ज्ञान की जननी है, ईश्वर के सकाश से उद्भवपालन-प्रलय करने वाली अचिन्त्य ईश्वर की शक्ति है, जीव को स्वप्रयत्न में लगाने वाली है।

४३- देह में भोग्यता बुद्धि, देह सम्बन्धी वस्तुओं में पुरुषार्थ बुद्धि, स्वर्गैवर्श्य में पुरुषार्थ बुद्धि, ब्रह्म लोक प्राप्ति में पुरुषार्थ बुद्धि और कैवल्य-पद प्राप्ति में पुरुषार्थ बुद्धि, भगवत प्रेम और उनके कैंकर्य रूप परम पुरुषार्थ प्राप्ति के विरोधी कहलाते हैं।

४४- भगवान के अनुवर्तन का विरोधी शरीर है। आचार्यानुवर्तन को रोकने वाले पुत्र-मित्रादि हैं। वैष्णवों के अनुवर्तन का प्रतिबन्धक इतर सहवास है। उपाय में द्रृढ़ निश्चय का विरोधी धन की प्रीति है, उपेय रुचि की विरोधिनी विषयासक्ति है।

४५- स्वरुप का प्रकाश ज्ञान से होता है, उपाय में सिद्धि महाविश्वासरूप अध्यवसाय से मिलती है, प्राप्य की प्राप्ति अपेक्षा और प्रेम से हाती है, विरोधी का शमन अरुचि और वैराग्य से होता है।

४६- १. शेषत्व में कर्तृत्व निवृत्ति, २. ज्ञातृत्व में कर्तृत्व निवृत्ति ३. कर्तृत्व में कर्तृत्व निवृत्ति ४. भोक्तृत्व में कर्तृत्व निवृत्ति, उपाय विषय का यथात्म ज्ञान कहलाता है।

४७- देहाभिमान, स्वरूपाभिमान, उपायाभिमान, उपेयाभिमान और अहं के न होने का अभिमान न होना अहं रहित शुद्ध चेतन का स्परूप है।

४८- देवतान्तर अथवा वैष्णवेतर मनुष्य की कृपा का विश्वास रखने से गुरु और भगवान के दास होकर भी सम्पूर्ण संसार की दासता करनी पड़ती है।

४९- जगत के जीव भगवच्छरणागत होकर परम पद प्राप्ति की योग्यता रखते हुये भी संसारियों का आश्रयण कर नरक जा रहे हैं एवं भगवान का आश्रयण कर गौरव प्राप्त करने की योग्यता होने पर भी मूर्खों का संग कर दीनता के आधीन हो रहे हैं तथा श्री वैष्णवों का आश्रय कर श्री युक्त होने की योग्यता रखते हुये भी प्राकृतों का संग कर श्री विहीन हो रहे हैं, आचार्य की शरणागति करके अमृतपान की प्राप्ति रहने पर भी अज्ञानियों के संग से विपत्ति रूपी विष का अनुभव कर रहे हैं। श्री मूल मंत्रोपदेश को प्राप्त कर दोष विहीन होने की योग्यता होने पर भी ममता में पड़कर स्वरुप नाश को प्राप्त हो रहे हैं।

५०- निरन्तर नियमन करने वाले आचार्य की सेवा में सन्निकट रहे या आचार्य से सुशिक्षित शिष्य की सन्निधि में रहे, इन दो पथों के अतिरिक्त स्वरूप बोध का कोई अन्य मार्ग नहीं।

५१- आचार्य को शिष्य के विषय में हेय दृष्टि नहीं होनी चाहिये, भगवत्-सम्बन्धित भागवत् तथा अपने आचार्य परम्परा में प्रसूत भूत श्री वैष्णव समझकर अपने आचरण से उसके हित को करना चाहिये।

५२- सद्गुरु के श्री मुख वार्ताओं को प्रमाण सिद्ध (आप्त वंचन) समझना चाहिये, इससे मन वशीभूत होता है, अन्त:करण के वशीभूत होने से अन्तर्यामी प्रसन्न होता है, अन्तर्यामी के प्रसन्न होते ही अन्त: प्रकाश और अन्त: सुख की उपलब्धि होती है, इन दोनों के प्राप्त होते ही अन्तर्दोष और दु:ख दूर हो जाते हैं, इनके नाश होने पर अनन्तानन्द की प्राप्ति होती है।

५३- शत्रुओं से डरना या उनको भयभीत करना प्रपन्न के स्वरूपानुकूल नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी पदार्थ श्रीपति भगवान के हैं।

५४- ईश्वर रूपी कृषक के चेतन रूपी बीजाकुंर को शेषत्व रूपी खेत में बोया। उसे भागवतापचार एवं विपरीत ज्ञान रूपी कीड़े से बचाकर

सद्गुरु सेवन रूपी नहर से कृपा रूपी जल प्रवाहित कर सिंचन करना चाहिये, तत्पश्चात् भगवद्विषय रूपी फावड़े से अहंता-ममता रूपी घास को निकाल फेंके। अन्य देवाश्रय तथा अन्य मताङ्गीकार रूपी पशु इसे अपने गाल का कवल न बना लें तथा विषय वासना रूपी झंझावात उखाड़ न डाले, इससे बचने के लिये प्रपन्नता की पुष्ट बाड़ी लगावें, पुन: भागवतों के सतसंग रूपी मेह जल से भी उसका सिंचन होता रहे, इसके बाद वह अंकुर पल्लवित और पुष्पित होकर उक्त कृषक के मन को मोहन करने वाला हो जायगा, तब वह चतुर किसान सुन्दर दिव्य फूलों की माला बनाकर अपने गले में सदा के लिये धारण कर लेगा। दिव्य सूरिगण परमैकान्तिक वैष्णव इसी हार के सुमन हैं।

५५- अज्ञानमय बनने वाला चेतन है, अज्ञान मय बनाने वाली माया है, अज्ञान से मुक्त करने वाले भगवान हैं। ज्ञान प्राप्त करने वाला चेतन है, ज्ञान प्राप्त कराने वाले आचार्य हैं। ज्ञान स्वरूप ईश्वर है, अस्तु स्वस्वरूप, माया स्वरूप, आचार्य स्वरूप और ईश्वर स्वरूप जानना चाहिए।

५६- आचार्य, चेतन और परम चेतन दोनों का उपकार करते हैं, क्योंकि चेतन लाभ के लिये ईश्वर इतना लालायित रहता है, जितना कि अत्यन्त क्षुधातुर अन्न के लिये। चेतन का कल्याण एवं उसके स्वरूप की उपयोगिता भी परमात्मा के विनियोग में आने पर ही है।

५७- बिना जवनिका (विवस्त्र) के अपने समस्त दिव्याङ्गों का दर्शन दान देना भगवान का अपना सर्वस्व दान कहलाता है, सम्पूर्ण सम्प्रदाय रहस्यों का यथार्थ ज्ञान सच्छिष्य के लिये प्रदान करना आचार्य का सर्वस्व दान कहलाता है। अपनी आत्मा एवं आत्म सम्बन्धी समस्त वस्तुओं को अपने आचार्य चरणों में अर्पित कर देना शिष्य का सर्वात्म समर्पण कहलाता है।

५८- आचार्यानुवर्तन और उनकी सेवा शिष्य को भार्या के सदृश, शरीर के सदृश तथा धर्म के सदृश रहकर करनी चाहिये अर्थात "गुरोराज्ञा गरीयसी" का अक्षरश: सप्रेम पालन करते हुये गुरु-सुख को अपना सुख समझकर उन्हीं के सुख के लिये जीता रहे। आचार्याभिप्रायानुसार चले तथा उनका अभिप्राय रूप बन जाय। इस विषय में द्रोणाचार्य के

शिष्य एकलव्य का इतिहास स्मरणीय है। अपने आचार्य में अत्यन्त श्रद्धा होने से यह सिद्धि करतलगत होती है।

५९- शिष्य के विषय में सदाचार्य को भर्ता के समान, शरीरी के समान तथा धर्मी के समान होकर रहना चाहिये अर्थात् जिस प्रकार किसी अचेतन पदार्थ का इच्छानुसार उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार विनियोग करना, उठा लेना, धारण किये रहना, धर्मी जैसे धर्म का त्याग नहीं करता वैसे ही आचार्य को शिष्य का त्याग नहीं करना चाहिए।

६०- आचार्य वही है, जो अपने शिष्य के अपराध करने पर भी अहित चिन्तन न करके सब प्रकार से उसका भला चाहे। शिष्य वही है, जो आचार्य के अधीन सब प्रकार से रहे। उनके सप्रेम सेवा में संलग्न रहना ही परम पुरुषार्थ समझे।

६१- आत्म-समर्पण के समान कोई वेद-विहित पुण्य कर्म नहीं तथा आत्मापहरण के समान कोई पाप कर्म नहीं, इनसे भी बड़े सुकृत और दुष्कृत आत्मापहार का निवारण कर आत्म समर्पण कराने वाले महोपकारक सद्गुरु के विषय में कृतज्ञता और कृतघ्नता है।

६२- अपने आचार्य के आत्म-गुण, तथा देह-गुण दोनों ही शिष्य को उपादेय हैं।

६३- शरणापन्न चेतन को शरीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिये भी भगवान के सामने हाथ जोड़कर खड़ा नहीं होना चाहिये, ऐसा करने से प्राकृत सम्बन्ध में स्नेह सूचित होता है तथा "भगवान स्वयं हमारे रक्षक हैं, जो करते हैं, भला ही करते हैं" इसमें अविश्वास उत्पन्न होकर ममत्व बुद्धि का प्रगट होना प्रकाशित होता है किन्तु कहीं-कहीं भगवद्भागवत कैंकर्य करने के लिए शरीरारोग्यता प्राप्त करने की प्रभु-प्रार्थना जो वैष्णवों में अपवाद रूप से देखी जाती है, वह स्वरूपानुकूल सन्तोष प्रद है।

६४- आचार्य अथवा किसी वैष्णव को इतर संसारियों की तरह देह-निर्वाह के लिये अर्थ-काम में प्रीति हो तो, इनको भी प्राकृत मनुष्यों की भाँति नहीं समझना चाहिये, क्योंकि धनधान्यादि में इनकी इच्छा शरीर यात्रा के लिये है, इसके विपरीत संसारियों का अर्थ काम-प्रावण्य पुरुषार्थ समझकर है।

६५- शिष्य की सम्पूर्ण वस्तु आचार्य एवं उनके सम्बन्धियों के विनियोग के लिये है, स्वयं के लिये नहीं।

६६- वैष्णव आयु में अपने से छोटे हों या बड़े, किन्तु उन्हें सर्वदा श्रेष्ठ ही समझना चाहिए, जैसे शालिगराम शिला में छोटे और बड़े में भेद नहीं होता।

६७- वैष्णव के जूठन प्रसादी की महिमा अवर्णनीय है, जिसे पाकर शूद्र दासी-पुत्र, ब्रह्म-पुत्र नारद, मुनि बन गये, जिनकी महिमा गान के लिये अलग से बड़ी पुस्तक चाहिए। एक गोहटा यादव प्रकाश सन्यासी बन गये, जिन्हें श्री रामानुज स्वामी के विद्या गुरु बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

६८- जिस प्रकार सदाचार्य के द्वारा शिष्य स्वयं तर कर दूसरों को तारने वाला बन जाता है, उसी प्रकार सच्छिष्य के सम्बन्ध में आचार्य का जीवन उत्कर्षता को प्राप्त होता है।

६९- सदाचार्यों के माध्यम से भगवच्छरणागति करने वाले चेतनों को कोई भय नहीं क्योंकि उनका माध्यम प्रबल है।

७०- उद्धार के लिये भगवान की अपेक्षा करना, केवल बातों से विनय करने के समान है। भागवतों की अपेक्षा करना, हाथ पकड़कर प्रार्थना करने के सदृश है, आचार्य की अपेक्षा करना चरण पकड़कर प्रार्थना करने के समान है।

७१- स्वस्वातन्त्र्य रूप सर्प से दूर भागना अधिकारी का कर्तव्य है। अविद्या तथा देवतान्तर शेषत्व को दूर करना आचार्य कृत्य है, भय को दूर करना पुरुषकार का कर्तव्य है। विषयान्तरों से अरुचि उत्पन्न करना भगवान का कार्य है।

७२- जीव को दु:खानुभव प्रकृति के कारण होता है। दुखी चेतन के दुख को न सहने वाली "श्री" जी हैं। दु:खों को दूर करने वाले भगवान हैं और ऐसा ज्ञान कराने वाले श्री आचार्य हैं।

७३- किसी भी माया बद्ध चेतन के दुख-निवृत्ति के लिये उसको न समझाकर भगवान से प्रार्थना करनी चाहिये, जैसे किसी कैदी को

बेड़ियों से मुक्त करने के लिये उससे न कहकर राजा से प्रार्थना करने पर कार्य की शीघ्र सिद्धि देखी जाती है।

७४- शिष्य को ऐसा आचरण करना चाहिए, कि जिससे अपने आचार्य की कृपा प्राप्त हो जाय, बस इसी में सब अनुष्ठान हैं।

७५- संसारियों को भगवान के ही जानकर जो प्रभु प्राप्ति के लिये अनुकूल वार्ताओं को सुनाता है एवं उनकी दी हुई द्रव्य को भगवत सम्बन्धी समझकर (प्रकृति सम्बन्धी नहीं) भगवद्भागवत के विनियोग में लगाता है, वह उन लोगों का परम कल्याण करता है। स्वयं द्रव्यादि ग्रहण के दोष से तथा अनधिकारी को हितोपदेश करने के दोष से अछूता रहता है।

७६- लीला विभूति से छूटने के लिये ज्ञानाधिक भागवतों के सम्बन्ध का अभिमान आवश्यक है। भागवत अवस्था में चाहे छोटे हों या बड़े हों।

७७- रहस्य त्रयार्थ एवं अन्य हित की वार्ताओं को तब तक सदाचार्य से बार-बार श्रवण करता रहे, जब तक पूर्ण बोध न हो जाय।

७८- ज्ञानाधिक शिष्य की वार्ता यदि संत शास्त्रानुमोदित साम्प्रदायिक सिद्ध हो तो, उसका आदर करना चाहिये।

७९- वैष्णव को प्रपन्न भागवतों एवं आचार्य को छोड़कर नहीं रहना चाहिये। विरह में प्राणान्त क्लेश का अनुभव करना चाहिये।

८०- अपने आचार्य तथा प्रपन्न भागवतों को अत्यन्त सुखानुभूति हो, ऐसी कामना से कैंकर्य करने में कहीं शास्त्रानुकूल विधि में विपरीतता का दर्शन हो तो उसे स्नेहाधिक की विभोरता समझ कर दोष नहीं मानना चाहिये।

८१- आचार्याभिमान भगवान को रक्षक न बताकर आचार्य के चरण-कमल को रक्षक, उत्तारक बतलाता है।

८२- अपना घर-द्वार, गाँव एवं स्वजन-सम्पत्ति छोड़कर आचार्य के अभिमुख होते ही चेतन के उद्धार के लिये सबसे बड़ा उपाय बन जाता है।

८३- शिष्य की सेवा की अपेक्षा न रखकर चेतन के दुख को न सहते हुये केवल कृपा मात्र से प्रसन्नाचार्य की इच्छा से ही चेतन को परम पद की प्राप्ति हो जाती है।

८४- जो यह स्वीकार करते हैं, कि सर्वेश्वर भगवान मोक्ष प्रदाता हैं, वे आचार्य को अपना रक्षक मानते हैं। जो यह समझते हैं, कि आचार्य ही मोक्ष प्रदाता हैं, वे आचार्य वैभव को प्रकाशित करने वाले भगवान को रक्षक मानते हैं।

८५- प्रपन्न वैष्णव गुरु के पास अज्ञानी बन के जाय, भगवान के सम्मुख स्वपापानुसंधान पूर्वक पापी बन के जाय। शिष्यों के समीप अपने को भगवदानुग्रहाधिकारी समझता हुआ रहे।

८६- पराभक्ति अथवा विरहासक्ति ही स्वरूप निष्ठ प्रभु प्रेमियों की उच्च दशा कहलाती है।

८७- समस्त आचार्यों का अभिप्राय समस्त स्वरूप निष्ठ दिव्य प्रबन्ध गाने वाले प्रपन्न वैष्णवों का अन्तरंग तात्पर्य, समस्त वेदों की सम्मति तथा सम्पूर्ण शास्त्रों का उद्देश्य आलोडन करने पर यही सार-सिद्धान्त सुस्पष्ट होता है, कि आचार्य कैंकर्य ही परम प्रयोजन है।

८८- अत्यन्त क्षुधातुर होने पर अपने भोजन करने के समान आचार्य कैंकर्य है। माता को भोजन पवाने के सद्दृश भागवत् कैंकर्य है। तथा राजा को भोजन कराने के समान भगवत कैंकर्य है।

८९- मुमुक्षु को पौरुष संग, काम संग और अर्थ संग त्यागने योग्य है एवं आचार्य विग्रह संग, आचार्य कैंकर्य संग, आचार्य प्रसादित सम्प्रदाय वार्ता संग उपादेय है।

९०- भगद्धामों का सेवन इसलिये अनिवार्य है, कि भगवद्नुभव में विच्छेद न हो तथा गुणानुभव कैंकर्य में सहायता मिलती रहे।

९१- जिस प्रकार यौवन गर्वित कामुक पुरुष अपनी प्रियतमा को शरीर की मलिनता सहित भोग्य समझकर स्वीकार करता है, उसी प्रकार भगवान चेतनों को परिश्रम कर (सृष्टि रचकर, अवतार लेकर) और याचना कर उनके शरीर सहित परम पद ले जाना चाहते हैं।

९२- भगवान के लिए, भगवान का आश्रयण करने वाले परमोत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त हैं। भगवान ही मेरे सर्व विधि बन्धु हैं, ऐसा मानने वाले यहाँ रहते हुये भी वहाँ ही हैं।

९३- प्रपत्ति-निष्ठ तीन प्रकार के होते हैं। १. शब्द निष्ठ (किसी प्रकार रहस्य त्रय मंत्र मुखोच्चारण करने वाले) २. अर्थ निष्ठ (अर्थानुसंधान मंत्र द्वयादि जपने वाले) ३. अभिमान निष्ठ (आचार्याभिमान निष्ठ)

९४- बद्ध जीवों के लिये अन्न जल धारक है, दुग्ध-घृत पोषक हैं, चन्दन, ताम्बूल, पुष्पमालादि भोग्य है। मुमुक्षु को ज्ञान धारक है, आचार्य वैभव पोषक है, भगवद्गुणानुसंधान भोग्य है। नित्य मुक्तों को श्री जी सहित भगवदनुभव धारक है,कैंकर्य पोषक हैं एवं भगवन्मुखोल्लास भोग्य है।

९५- संसारी लोग धन लुब्ध होते हैं, श्री वैष्णव ज्ञान लुब्ध होते हैं नित्य मुक्त कैंकर्य लोभी होते हैं, भगवान दास्य लुब्ध हैं।

९६- चेतन को स्वरूप प्राप्ति तभी संभव है, जब उसके समर्पण-विरोधी, साधन-विरोधी, प्राप्य-विरोधी तीनों पापों का क्रमश: शमन हो जाता है।

९७- साधक वैष्णव साधन रूप से कैंकर्य करते हैं, एकान्तिक कालक्षेप के लिये कैंकर्य करते हैं, परमैकान्तिक प्रबल राग होने से कैंकर्य करते हैं।

९८- भगवान के प्रति किये हुये अपराध से जन्मान्तर में मुक्त हो सकते हैं, किन्तु भागवतापराध करने पर जन्मान्तर में भी छुटकारा नहीं मिल सकता, यह प्रबल मोक्ष विरोधी है।

९९- पुरुषकार करने वाली कृपा विग्रहा श्री जी, चेतन का एक हाथ पकड़ लें तथा सदाचार्य भी एक हाथ पकड़कर भागवतापचारी चेतन को परम पद ले जाना चाहें तो भी बाधा उपस्थित हो जायेगी।

१००- भागवतापचार अनेक प्रकार का होता हुआ १२ प्रकार से मुख्य होता है -

१-जन्म निरूपण २- शरीर निरूपण ३- पाक निरूपण (बाल्यादि अवस्था निरूपण) ४- आश्रय निरूपण ५- अवयव निरूपण ६- आलस्य निरूपण (व्रणादि से दुर्गन्ध होने पर घृणा करना) ७- वास

निरूपण ८- बन्धु निरूपण (हमारा बन्धु है कहना) ९- प्रकाश निरूपण (सभी आचार्यों भागवतों को रक्षक न समझना) १०- प्रकार निरूपण (छोटा कैंकर्य करने वाले को छोटा समझना) ११- वर्तन निरूपण (जीविका के लिये नौकरी करने वाले को नौकर समझना) १२- दोष निरूपण (वैष्णव के दोष देखना)।

१०१- शरीर सम्बन्ध एवं प्राकृतिक सुख-दुख में रचे-पचे रहना, भागवतापचार एवं विषय प्रावण्य का ही परिणाम है।

१०२- शरणापन्न वैष्णव में दोष का दर्शन उसी प्रकार असंभव है, जैसे सूर्य में अन्धकार का। कभी किसी वैष्णव में जो दोष दिखाई देता है वह उनका नहीं है वास्तव में वह दोष भगवदिच्छा से भगवल्लीला का सहयोगी बनकर भगवत प्रेरणा से दृष्टिगोचर हो रहा है अथवा जाग्रतावस्था का स्वप्न है, अस्तु भागवतगण निर्दोषी होते हैं।

१०३- वैष्णव सिद्धान्तानुसार, वैष्णव, १- आहार नियम २- विहार नियम ३- अन्न नियम ४- भोजन नियम ५- स्नान नियम ६- स्वरूप नियम ७- उपाय नियम ८- उपेय नियम ९- वास नियम १०- पाक नियम (भगवत सेवा ही भोग है) ११- आचार नियम १२-संसर्ग नियम, इन १२ नियमों को स्वभाव में उतार लेते हैं।

१०४- जिस प्रकार वसुन्धरा विदीर्ण हो जाय तो उसका सीना असाध्य है, पर्वत टूट कर गिर पड़े तो पुन: उसको खड़ा करना असाध्य है, समुद्र उमड़ पड़े तो उसको रोकना असाध्य है, उसी प्रकार भागवतापचार बन जाने से उसका परिहार अप्राप्य है। सर्व समर्थ भगवान भी उसे क्षमा करने में अशक्य हैं। वे कहते हैं, कि "न क्षमामि कदाचन"।

१०५- चेतन का भागवत शेषत्व, स्वरूप है, भागवत प्रसाद उपाय है, भागवत कैंकर्य उपेय है और भागवतापचार विरोधी है। औपाधिक भागवत विषयक राग तथा निरुपाधिक भागवत-द्वेष जीव के घोर अपराध हैं।

१०६- अविहित विषय-स्पर्श दो प्रकार का है।

१- अविलक्षण विषय स्पर्श (वैश्यादि स्त्री गमन)-देव स्थान में मूत्र पुरीषोत्सर्ग के समान है, प्रायश्चित साध्य है।

२- विलक्षण विषय स्पर्श (वैष्णव स्त्री गमन)-तुलसी वृन्दावन में पुरीषोत्सर्ग के समान है, इसका प्रायश्चित नहीं अर्थात् जब तक आत्मा है, तब तक नरक का हेतु है।

१०७- देवान्तर के भजन से विषय की वृद्धि होती है अर्थात् संसारी सुख को ही वे प्रदान करते हैं।

१०८- प्राकृत जनों के सम्बन्ध से प्रकृति सम्बन्ध का भय बना रहना स्वाभाविक है। ममकार ही मृत्यु का स्वरूप है, अहं का नाश होने से ही इसका सर्वनाश संभव है।

१०९- भगवान के श्री विग्रह में तीन पर्व हैं। श्री मुख कमल, श्री कर कमल और श्री चरण कमल, जो क्रमश: चेतनों को परम भोग्य अभय दानि और आश्रय स्थान हैं।

११०- आचार्य-देह-चिन्ता सम्पन्न सच्छिष्य आचार्य शरीर के कैंकर्य को उपेय (परम पुरुषार्थ) समझते हैं। सद्गुरु सेवा से श्रमित होने पर शिष्य - शरीर से निकले हुये श्रम-कण दिव्य कमल के पुष्प बन जाते हैं। यह अर्थ इतिहास श्रेष्ठ श्री वाल्मीकि रामायण में देखा जा सकता है।

१११- आचार्य-सेवा-परायण सच्छिष्य के हृदय में केवल प्रसन्नाचार्य-कृपा मात्र से (बिना गुरु के बताये) ज्ञान का उदय हो जाता है, वह भगवान के परावर स्वरूप का अपरोक्ष दर्शन बिना साधन-श्रम के कर लेता है।

११२- भगवान का स्वरूप, शील-स्वभावादि चेतन को सदा सर्वत्र अनुसंधेय है अर्थात् भोगानुभव के लिये है, जैसे पंकज का पराग लुब्ध षट पद के लिये है, कमल के लिए नहीं।

११३- "हम अनुभव करते हैं" का अर्थ भगवान अनुभव करते हैं अर्थात् चेतन का अनुभव भगवान के अनुभव के अन्दर है।

११४- भगवान के सौशील्य, सौलभ्य और वात्सल्यादि दिव्य गुणों का विकास विशेष रूप से अमृत धाम में न होकर मृत धाम में ही होता है, जैसे दीपक सूर्य के सामने वैसा प्रकाशित नहीं होता जैसे अंधकार पूर्ण मंदिर में।

११५- चेतन के प्रेम-तन्तु से बंधे हुये सर्व-समर्थ भगवान अपने को पाश-मुक्त होने का स्वप्न भी नहीं देखते क्योंकि अधिकाधिक नेह-रज्जु के निशान उनके शरीर में अंकित होकर उन्हें परमानन्द-सिन्धु में शयन कराने के सहायक होते हैं।

११६- भगवान में आसक्त मन वाला भगवदाश्रयी ही समग्र रूप से भगवान को जानने, दर्शन करने और उनमें (उनके धाम में, कैंकर्य में) प्रवेश करने में समर्थ हो सकता है।

११७- प्रपत्ति करने वाले चेतन में कर्म, ज्ञान और भक्ति उपायतया न होकर रहते हैं, प्रेम लक्षणा पराभक्ति तो प्रपत्ता के प्रपत्ति की वैशुद्ध परिपाकावस्था ही है।

११८- प्रभु प्रेमी प्रपन्नों के सतसंग जनित आनन्दामृत के अतिरिक्त क्या और कोई अमृत है। पाताल के पीयूष तथा चन्द्र-सुधा और देव-लोक के अमृत को पीने वाले सभी मृत हो गये किन्तु सतसंग-सुधा के पान करने वाले सभी अमृतत्व को प्राप्त हो गये।

११९- गुप्त से गुप्त रहस्यमयी वार्ता, प्रपत्ति करने वाले आरत अधिकारी से श्री हरि, गुरु और संत जन छिपाने में सदा असमर्थ रहे हैं, और रहेंगे। अहा ! प्रपत्ति में कितनी अचिन्त्य शक्ति है।

१२०- प्रपत्ता को प्रपतव्या अपना सर्वस्व दान कर और और देने के लिये अन्वेषण करता है, किन्तु कुछ भी अपना न पाने पर उसका ऋणी बनकर सदा संकुचित रहता है।

१२१- गजेन्द्र की आह भरी आवाज में अपना अर्धनाम सुनते ही दौड़कर श्री हरि ने चक्र के द्वारा ग्राह-ग्रीवा को काट दिया। विलम्ब में पहुँचने की छमा याचना करते हुये कहा कि अब इतना अतिकाल क्रिसी भी शरणागत चेतन की आर्त-पुकार पर न करूँगा। धन्यातिधन्य भगवान की सर्वलोक शारण्यता को।

१२२- अपने प्रति प्रपत्ति करने वाली श्री द्रौपदी जी की आर्ति दशा को देखकर अशुद्धावस्था का विचार न करते हुए स्वयं वस्त्र स्वरूप से शरीर से लिपट कर उसके लोक-लाज की रक्षा की।

१२३- रावण से नीचवत अपमान को प्राप्त पैरों से ठुकराया हुआ विभीषण भगवान से शरण याचना करते ही अभय हो गया, लंकाधिप बन गया, परम पद का अधिकार पा गया, भगवत सखा बन गया, ये सब दोनों विभूतियों के सुख विभीषण को देकर भी "हाय हमने इसको कुछ न दिया" कहते हुए भगवान सदा संकुचित बने रहे। धन्य है, इस सिद्धोपाय को, क्यों न हो भगवान स्वयं इसमें उपाय और उपेय रहते हैं।

१२४- प्रपत्ति करने वाले को लोक-लाज, स्वसामर्थ और स्वप्रयत्न व्यापार तथा प्रपतव्य को छोड़कर अन्य मुखापेक्षिता त्याग ही देना चाहिए।

१२५- सर्व साधन हीनता एवं स्वपाप-पीनता का अनुसंधान तथा अन्यालम्बन की अयोग्यता और प्राप्य-प्राप्ति की कामना ही भगवच्छरणागति का हेतु है।

१२६- अहा घर में आये हुये भार्या प्राणापहारी व्याध का आतिथ्य अपना शरीर और प्राण देकर एक कपोत ने किया था, तो भगवान के विषय में क्या कहना है, क्योंकि वे शरणागत वत्सल, सर्वलोक शारण्य, सर्व समर्थ प्रभु, और काल, कर्म, स्वभाव गुण भक्षक प्रपत्ति-धर्म वेत्ता हैं।

१२७- मलिन-काया, मलिन-वसना, दुर्गन्धि-दूषिता पत्नी को स्वपति से शयन-सुख की प्रार्थना करने की अपेक्षा अपने शरीर को स्वच्छ कर मन-मोहिनी सुन्दरी बन जाना चाहिए। पति स्वयं ही आकर्षित होकर आलिंगन प्रदान करेगा इसी प्रकार चेतन के अहंता-ममता रूपी मैल दूर हो जाने से भगवान स्वयं अपना सहज भोग समझकर उसका अनुभव करते हुए उसे अपना अनुभव कराते हैं।

१२८- सृष्टि वैभव में जो भी दृष्ट और श्रुत समूह सुख प्रद पदार्थ हैं, वे भगवतसंपत्ति-सागर के एक बूंद की तुलना में भी नहीं है, अस्तु अज्ञानी ही भौतिक-सुख के सतत प्रयास में लगे रहते हैं। ज्ञानी तो सर्व त्यागकर अमृताम्भोधि के सम्मुख त्वरा के साथ चल देते हैं।

१२९- भागवतों की सेवा से भगवान अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं। वे अपने सेवा की अपेक्षा न करके भागवतानुरागी के लिये अपने आप को समर्पण कर देते हैं।

१३०- "श्री जी" का साधु-वेश सत्कार करना अचिन्त्य है, उन्होंने लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन करके (अपने को अपने से भय के मुख में प्रवेश कराकर) आतिथ्य पूजन का आदर्श स्थापित किया।

१३१- विषय प्रावण्य की अधिकता से चेतन में इतनी अज्ञान की प्रबलता हो जाती है कि जिससे वह जड़त्व भाव को प्राप्त होकर काष्ठ और पत्थर में परिवर्तित हो जाता है।

१३२- विषय से वितृष्णता का उदय होने पर चेतन में आई हुई जड़ता का बीज ही समाप्त हो जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रगट होते ही सत्य ज्ञान स्वरूप हो जाता है, सूक्ष्म बुद्धि में आत्मा और परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह परमात्म विद् होकर परमात्मा से पृथक अपना ज्ञान नहीं रखता,अर्थात परमात्म तत्वमय हो जाता है। प्रकाशमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, मंगलमय, अमृतमय, रसमय, प्रेममय बन जाता है।

१३३- एक संख्या में, एक कोटि नहीं है, किन्तु एक करोड़ में एक है। गोष्पद में समुद्र नहीं है, परन्तु समुद्र में गोष्पद है, इसी प्रकार इतरोपाय में प्रपत्ति नहीं है, किन्तु प्रपत्ति में कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति सभी इतरोपाय सन्निहित है।

१३४- रहस्य त्रय मंत्रानुसंधान के बिना प्रपन्नों की देह-यात्रा संभव नहीं, संभव है तो वे प्रपन्न नहीं।

१३५- भगवत्प्राप्ति का विरोधी केवल शरीर ही नहीं है, अपने से किये हुये पुण्य भी पाप के समान विरोधी है, जैसे सुन्दरी के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले हृदय हार और कंचुकी प्रियतम आलिंगन के विरोधी हैं, इसलिये पहले पाप से पृथक होकर पुण्य का सम्पादन करे पुन: प्रभु प्राप्ति के लिये पुण्य-कर्म से भी (पुण्य के संकल्प अहं-आसक्ति तथा फलाशा से) पृथक हो जाय।

१३६- समस्त चेतनों के अनुकूल होकर रहना ही प्रपन्न के आनुकूल्य संकल्प का स्वरूप है, क्योंकि भगवान अन्तर्यामी रूप से निश्चय सभी भूतों में निवास करते हैं।

१३७- भगवान का चिन्तन न करने वालों की संगति प्रपन्नों के लिये सर्वथा त्याज्य है। नेत्र से दर्शन, त्वचा से स्पर्श, वचन संभाषण करने मात्र से अपने स्वरूप की हानि प्रारम्भ हो जाती है।

१३८- भगवदाश्रयी प्रपन्न को अन्य देवान्तरों से दिया हुआ एवं साधनान्तरों से मिलने वाला अत्यन्त दुर्लभ कैवल्य पद (मोक्ष) भी अरुचिकर और अस्वीकार होता है।

१३९- भगवदाश्रयी को भगवच्छेषत्व की प्राप्ति हो जाने पर नरक में भी रहना पड़े तो उसे वहाँ परम पद जैसा आनन्द अनुभव में आता है।

१४०- प्रपन्न को भगवती "श्री जी" का, भगवान का और आचार्य का मंगलानुशासन निरन्तर करते रहना स्वरूपानुकूल है।

१४१- भगवान यदि एक साधारण चेतन पर अपनी कृपा बिन्दु बरसाते हैं, तो उससे केवल उसका ही उज्जीवन और उद्धार होता है, किन्तु वही कृपा-कटाक्षामृत अत्यन्तोदाराशयी परमोपकारी आचार्य पर जब वर्षा करते हैं, तो उनके उपदेश से लोक को श्रेष्ठाति-श्रेष्ठ जीवन प्राप्त हो जाता है, जैसे मेघ, गाय-खुर में वर्षे तो वह जल केवल गोष्पद भर के लिये होगा। इसके विपरीत यदि बड़े सरोवर में वर्षा करे, तो उससे प्राणी वर्गों के स्नान करने, पीने और देश के कृषि सींचने का काम होगा।

१४२- कृपा-सिन्धु भगवान जब विषय-प्रावण्य की प्रबलता से जीव को शास्त्रोपदेश से अपनी ओर आते नहीं देखते, तो किसी-किसी विशेष बड़भागी को अपना मंगल विग्रह दिखाकर विषयान्तरों से खींच लेते हैं, जिसका परिणाम यह होता है, कि वह भगवान को ही अपना शिष्य बनाकर आकर्षित चित्त से आसक्त होकर अनुभव करने लगता है।

१४३- भगवद्धाम प्राप्त करने वाले चेतन को भगवान, रूप साम्य, गुण साम्य और भोग साम्य नाम के त्रय साम्य प्रदान करते हैं।

१४४- भगवान के तीन आकार हैं, परत्व, सौलभ्य और सौन्दर्य। इनका अनुसंधान कर चेतन को अन्याश्रय परित्याग कर भगवदाश्रयण स्वीकार करना चाहिए।

१४५- कुसंग माने प्रकृति और प्राकृत पदार्थों का संग। सतसंग का अर्थ है भगवान और भागवतवृन्दों का संग, अस्तु प्रकृति और प्राकृत

वस्तुओं में त्याज्य व त्याज्यता बुद्धि और भगवद्भागवतों में उपादेय व उपादेयता बुद्धि होनी चाहिये।

१४६- किंचित सत्संग-सुख की तुलना में स्वर्ग-सुख और मोक्ष-सुख अपकृष्ट ही है, अस्तु कर्मावलम्बियों, अष्टाङ्ग योग करने वाले योगियों और शुष्क ज्ञानियों (मायावादियों) का संग भी सत्संग नहीं कहा जा सकता। भगवत संगियों के संग को ही सत्संग नाम मनीषियों ने दिया है।

१४७- जिस संग से प्रभु प्रेम की पवित्र धारा हृदय में बहने लगे और समीपवर्ती सभी प्राणियों को प्लावित कर दे, उसी संग का नाम सत्संग है और यह भगवद्भक्तों में ही संभव है जहाँ प्रभु के नाम, रूप, लीला, धाम का स्मरण एवं कीर्तन करते ही रस वृष्टि होने लगती है।

१४८- वैष्णव के निम्नोच्च ज्ञान को तथा उच्च ज्ञान में स्व-स्थिति को वैष्णव ज्ञान कहते हैं, अस्तु वैष्णव को गुरु और सद्गुरुओं का ज्ञान, अन्य मंत्रों और रहस्य त्रय मंत्र का ज्ञान, अन्य देवों और भगवान का ज्ञान, देह और आत्मा का ज्ञान, उपासक और प्रपन्न का ज्ञान, अन्य साधन और सिद्ध साधन का ज्ञान, पर व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार का ज्ञान, संसारी और वैष्णवों का ज्ञान, जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान, अन्य पुरुषार्थ और परम पुरुषार्थ का विद्यमान तारतम्य ज्ञान होना चाहिए।

१४९- प्रपन्नाधिकारी चेतन को शरीर पर्यन्त भगवान में आसक्त चित्त होकर आर्तिपूर्ण शरणागति मंत्र का अनुसंधान करते रहना चाहिये।

१५०- हाय! मुझसे आर्तिपूर्ण प्रपत्ति न हो सकी, अस्तु, भगवान के कृपा का अधिकारी नहीं हूँ, अनन्य प्रयोजन न हो सका, इसलिये प्रभु के प्रेम-पात्र बनने की योग्यता भी मुझमें नहीं है, जान बूझकर पाप परायण हो रहा हूँ, अत: क्षमा पाने का भी अधिकारी नहीं हूँ। ऐसा पश्चाताप कर-करके प्रपन्न को भगवच्चरणों में गिरकर गिड़गिड़ाते हुए मंत्र द्वय का अनुसंधान कर उनकी अहैतुकी कृपा की याचना करनी चाहिए।

१५१- भगवान की अहैतुकी कृपा से भगवान में प्रियता का भाव प्राप्त होता है, भगवत-रुचि से आचार्य वरण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, आचार्य वरण से स्वीकार ज्ञान उत्पन्न होता है, स्वीकार ज्ञान भगवत प्राप्ति कराता है। प्रभु प्राप्ति से कैंकर्य करने की इच्छा होती है, भगवत-कैंकर्य से भागवत कैंकर्य में रुचि जागती है। इससे यह मालुम होता है, कि भगवत सेवा उपाय और भागवत सेवा उपेय है।

१५२- चेतन के कल्याण के लिये अवैष्णवों का त्याग, भागवतों का परिग्रह, भगवत-स्वीकार, आचार्याङ्गीकार और स्वस्वरूप का ज्ञान होना अत्यन्तावश्यक है।

१५३- प्रपन्न वैष्णवों को प्रपन्नों का संग, प्रपन्नों के बनाये हुए ग्रंथों का अभ्यास, आचार्याभिमान और मंत्र-द्वय अनुसंधान करते हुये प्रपत्ति पथ पर चलने की चेष्टा शीघ्र अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट की प्राप्ति कराती है। यह चेतन अपने प्रयत्न से यदि भगवान को प्राप्त करना चाहे, तो इसके बड़े से बड़े साधन उपाय नहीं हो सकते, यदि स्वयं भगवान जीव को अपनाना चाहें तो इसके अनंतानंत महा-महा अपराध भी प्रतिबन्धक नहीं बन सकते अर्थात् अननुष्ठान और अनुष्ठान पर प्रभु-अप्राप्ति और प्राप्ति निर्भर नहीं है, भगवत कृपा के अधीन है, अस्तु स्वगत स्वीकार से परगत स्वीकार श्रेष्ठ है।

१५४- मंत्र-मंत्रदेवता और मंत्र-प्रदाता में एक बुद्धि से भक्ति करने पर ही प्राप्य की प्राप्ति होती है, बांस की वंशी के तीनों पर्वों को शलाका से फोर कर एक कर लेने से ही उसमें मधुर-मधुर मन-मोहनी धुनि निकलती है।

१५५- भगवान वही है, जो संत, श्रुति और गुरु की महिमा का महत्व धराधाम में प्रकट करे। गुरु वही है, जो भगवत् भागवत तथा श्रुति-शास्त्र का महत्व विस्तारित करे। श्रुति-शास्त्र वही है, जिसमें भगवद्भक्ति का विस्तार रूप से गायन करते हुये श्री हरि, गुरु और संत की महिमा गाई गई हो। संत वही है, जो अपने से श्रुति-शास्त्र की रक्षा करते हुये श्री हरि-गुरु के शरण में होकर भागवद्धर्मानुसार चलने के लिये चेतन को प्रेरणा दे और स्वयं सन्मार्ग (प्रपत्ति पथ का) का त्रिकरण अनुसरण करे।

१५६- भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम चारों सच्चिदानन्दमय एक ही तत्व हैं, फिर भी स्नेह पूर्ण नाम का आधार लेने से क्रमशः तीनों

का विशेष रूप से दर्शन हो जाता है अर्थात् नाम के अधीन तीनों हैं।

१५७- सच्चिदानन्दमय भगवान में देही-देह विभाग नहीं है अर्थात् उनकी देह उसी तत्व की है, जिसकी उनकी आत्मा।

१५८- भगवान हमारे हैं, इस कल्पना मात्र में कितना आनन्द है, यदि जीव सद्गुरु-वाक्यों में प्रीति-प्रतीति करके अपने और भगवान के सहज सम्बन्ध में आसक्त होकर तदनुसार भाव पूर्ण भावना में मग्न हो जाय, तो वह सुख अवर्णनीय होगा।

१५९- भागवद्धर्मानुसार चलना अधिकारी चेतन की जीवन पद्धति है और प्रेम पूर्ण भजन करना स्वरूपानुसार स्वभाव है।

१६०- भागवतापचार करके कालान्तर में त्राण पाना अपचार किये गये भक्त की शरणागति करके कृपा प्राप्ति करने पर ही संभव है। भक्त जिसे अपना लेते हैं, उसका बाल बाँका करने की किसी में सामर्थ नहीं है। श्री हरि-चक्र, संहारमूर्ति शंकर का त्रिशूल, इन्द्र-वज्र और कालदण्ड भी उसके सामने निष्प्रभ (निस्तेज) हो जाते हैं।

१६१- भगवान भक्तों के हैं और किसी के नहीं, भगवान की उभय विभूतियों सहित उन पर भागवतों का वैसा ही सहज अधिकार है, जैसे पिता की सम्पत्ति पर औरस पुत्र का।

१६२- भागवत परायण, मुमुक्षु तथा बुभुक्षु के भेद से दो प्रकार के होते हैं। भगवच्चरणार्थी और कैवल्यार्थी, भेद से मुमुक्षु भी दो तरह के होते हैं। भगवच्चरणार्थी के भी उपासक और प्रपन्न नामक दो भेद होते हैं। आर्त और दृप्त भेद से प्रपन्न दो प्रकार के होते हैं। आर्त प्रपन्न भी दो तरह के होते हैं।

१- संसार ताप से अत्यन्त संतप्त।

२- भगवदनुभव के बिना प्राण धारण करने में अशक्त।

वास्तव में वही उच्चातिउच्च अधिकारी है, जो वैष्णव कुल में उत्पन्न होकर आचार्य प्रसादित वार्ता रूपी दुग्ध पीकर पुष्ट बन गया है। भागवतों के कृपा प्रसाद का पात्र बनकर भगवद्विरह को क्षण भर भी सहने में असमर्थ है, अनन्य प्रयोजन होकर अत्र-तत्र भगवत्कैंकर्य करना

ही परम पुरुषार्थ समझ रक्खा है। सब प्रकार के अभिमान से शून्य है। भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम में अबाधित स्मरण करता रहता है, वैष्णवीय सर्व सम्पति से संयुक्त होकर भी अकिंचनता से अलग नहीं होता। अकृत करण भगवदापचार, भागवतापचार और असह्यापचार का स्वप्न भी नहीं देखता, जिसे भगवान "श्री जी" के समान अपना आलिंगन एवं सर्वस्व समर्पण करके भी तृप्ति का अनुभव नहीं करते, किंबहुना जिसके बिना अपनी आत्मा को नहीं सहते।

नोट :- वेदेतिहास, पुराणानुमोदित परमाचार्यों के प्रबन्ध रूपी आकर से विनिसृत वाङमुक्ताओं को चुनकर १६२ मणियों की माला सुमेरु सहित भगवत कृपा से दास के द्वारा गुंफित होकर भगवद्भागवतानुरागियों के हृदय का हार बनना चाहती है। यह अपना विश्वास है, कि जो इसे धारण करेगा परमाचार्यों की कृपा से वह स्वयं कौस्तुभमणि के सद्दृश भगवान के हृदय को हर्षण करने वाला हार बन जायगा।

---o---

१३६. वैष्णव में श्री-हरि-गुरु-संत-शास्त्र की निन्दा सुनने की अक्षमता

१- वैष्णव श्री-हरि-गुरु एवं संत-शास्त्र की अनुकूलता ग्रहण करने से ही विष्णु प्रिय वैष्णव पद प्राप्त किये हैं, अस्तु इनकी निन्दा श्रवण करने में वे असहिष्णु होते हैं।

२- वैष्णव यदि उपरोक्त जनों की निन्दा श्रवण करने में सक्षम हो जाय, तो तुरन्त ही आर्य धर्म के नाश हो जाने से जगत विपर्यता को प्राप्त कर भ्रष्ट हो जाय, अस्तु वे निन्दा से बचे रहते हैं।

३- भगवद्भागवत की निन्दा सुनना निन्दा करने के समान है, जो शास्त्रानुसार महा अपचार है, अस्तु वैष्णव जन इससे सर्वदा बचे रहते हैं।

४- अपने आराध्य देव एवं तदीय जनों का अपचार संसारी लोग भी नहीं करते, तो वैष्णव अपने इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति करने वाले महानुभावों की निन्दा कैसे श्रवण करें।

५- वैष्णव का चित्त अपने इष्ट के निन्दा सुनने के देश-काल में रहता ही नहीं, उसे क्षण मात्र का भी अवसर अप्राप्य है। उसका सारा समय प्रभु स्मरण के लिये अर्पित है। कहीं कुभाग्य से कुअवसर मिला तो वह कान मूँद कर वहाँ से चल देता है। समर्थ वैष्णव हुआ तो निन्दा करने वाले को सीख दिये बिना नहीं रहता।

॥ समाप्तम् ॥

अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी रामहर्षण दास जी महाराज का अनमोल भक्तिसाहित्य

१	वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र व्याख्या)
२	श्री प्रेम रामायण (चतुर्थ संस्करण) सजिल्द
३	औपनिषद ब्रह्मबोध
४	गीता ज्ञान
५	रस चन्द्रिका
६	प्रपत्ति-प्रभा स्तोत्र
७	विशुद्ध ब्रह्मबोध
८	ध्यान वल्लरी
९	सिद्धि स्वरूप वैभव (द्वितीय संस्करण)
१०	सिद्धि सदन की अष्टयामीय सेवा
११	लीला सुधा सिन्धु (द्वितीय संस्करण)
१२	चिदाकाश की चिन्मयी लीला
१३	वैष्णवीय विज्ञान
१४	विरह वल्लरी
१५	प्रेम वल्लरी
१६	विनय वल्लरी
१७	पंच शतक
१८	वैदेही दर्शन
१९	मिथिला माधुरी
२०	हर्षण सतसई
२१	उपदेशामृत
२२	आत्म विश्लेषण
२३	राम राज्य
२४	सीताराम विवाहाष्टक
२५	प्रपत्ति दर्शन
२६	सीता जन्म प्रकाश
२७	लीला विलास
२८	प्रेम प्रभा
२९	श्री लक्ष्मी निधि निकुंज की अष्टयामीय सेवा
३०	आत्म रामायण

प्रकाशन विभाग
श्री रामहर्षण कुंज, नयाघाट, परिक्रमा मार्ग, श्री अयोध्या, जिला-साकेत (उ.प्र.) २२४१२३.

अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी रामहर्षण दास जी महाराज का अनमोल भक्तिसाहित्य

१ वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र व्याख्या)
२ श्री प्रेम रामायण (चतुर्थ संस्करण) सजिल्द
३ औपनिषद ब्रह्मबोध
४ गीता ज्ञान
५ रस चन्द्रिका
६ प्रपत्ति-प्रभा स्तोत्र
७ विशुद्ध ब्रह्मबोध
८ ध्यान वल्लरी
९ सिद्धि स्वरूप वैभव (द्वितीय संस्करण)
१० सिद्धि सदन की अष्टयामीय सेवा
११ लीला सुधा सिन्धु (द्वितीय संस्करण)
१२ चिदाकाश की चिन्मयी लीला
१३ वैष्णवीय विज्ञान
१४ विरह वल्लरी
१५ प्रेम वल्लरी
१६ विनय वल्लरी
१७ पंच शतक
१८ वैदेही दर्शन
१९ मिथिला माधुरी
२० हर्षण सतसई
२१ उपदेशामृत
२२ आत्म विश्लेषण
२३ राम राज्य
२४ सीताराम विवाहाष्टक
२५ प्रपत्ति दर्शन
२६ सीता जन्म प्रकाश
२७ लीला विलास
२८ प्रेम प्रभा
२९ श्री लक्ष्मी निधि निकुंज की अष्टयामीय सेवा
३० आत्म रामायण

प्रकाशन विभाग
श्री रामहर्षण कुंज, नयाघाट, परिक्रमा मार्ग, श्री अयोध्या, जिला-साकेत (उ.प्र.) २२४१२३.